अ.भा. सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

कार्यकर्ता-पाथेय

विनोबा
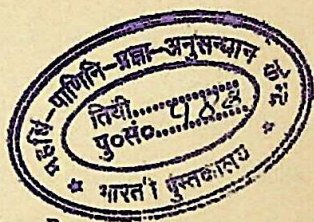
प्रकाशक की ओर से
सस्नेह भेंट

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

राजघाट, काशी
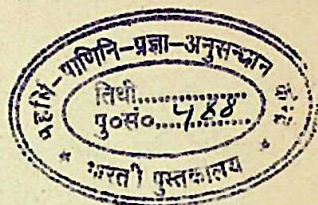
प्र का श की य

जिन दिनों बंगाल में विनोबाजी की भूदान-यात्रा चल रही थी, उन्हीं दिनों श्रीमती आशा देवी आर्यनायकम् ने पूज्य विनोबाजी के समक्ष एक योजना रखी कि वे प्रतिदिन शाम को यात्री-दल के कार्यकर्ताओं का एक वर्ग लें और उन्हें कुछ उपदेश दें। उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया और २१ जनवरी '५५ के अपने प्रवचन में कहा :

"यह जो हर रोज हमारा वर्ग चल रहा है, वह एक अच्छी योजना है। उससे हमें भी सन्तोष हो रहा है यों, हमारा यह स्वभाव है कि हम अपनी ओर से अक्सर कोई सुझाव पेश नहीं करते हैं। हममें यह प्रवृत्ति नहीं है कि आपसे कहें कि आप इस तरह शाम को आते जाइये, हम कुछ बातें बतायेंगे। वैसे, यह भूदान-यज्ञ भी स्वाभाविक तरह से निकला है। गांधीजी गये, तो हमें स्वाभाविक ही देश की परिस्थिति के चिन्तन से यह प्रेरणा हुई। लेकिन, मेरे मूल स्वभाव में यह बात नहीं है। प्रेरणा हुई, इसलिए बिलकुल ही स्वाभाविक रीति से इस कार्य का आरम्भ हुआ। तेलंगाना में, पोचमपल्ली में, जो घटना घटी, उससे यह चीज मुझ पर लादी गयी है। जिस दिन मुझे पहला दान मिला, उस रात को मुझे नींद नहीं आयी। लग रहा था, जैसे कोई मुझसे बात कर रहा हो। मुझे हिम्मत नहीं होती थी कि मैं इस काम को उठा लूँ। मेरा स्वभाव गणित का है। मैंने गणित करके देखा कि इससे थोड़ी-सी जमीन तो मिलेगी, परन्तु भूमि-समस्या हल

नहीं होगी। परन्तु वह घटना ही ऐसी बनी थी कि मेरा चिन्तन चलता रहा। फिर अन्दर से आवाज आयी कि 'तू अगर इस काम में नहीं पड़ेगा, तो तेरी अहिंसा निकम्मी साबित होगी। फिर या तो तुझे सारा काम छोड़कर हिमालय जाना होगा या कम्युनिस्टों का 'क्रीड' (सिद्धान्त) स्वीकार करना होगा। दोनों में से एक भी नहीं करेगा, तो कैसे चलेगा?.........।' तो यह मुझे अतिशय स्वाभाविक तौर पर लेना पड़ा। इन दिनों मेरी ऐसी प्रवृत्ति हो गयी है कि जो काम सहज हो जाय, वह हो जाय। अपनी ओर से कुछ काम करने की मुझे प्रेरणा नहीं होती। इसलिए आशा देवी ने क्लास की जो यह योजना की, वह मुझे अच्छी लगी और स्वाभाविक तरह से यह क्लास चलता रहा। इसी तरह से आन्तरिक सम्बन्ध बनता है। तभी कार्यकर्ताओं की ताकत बनती है। ऊपर के काम से नहीं बनती है।"

आशा बहन की प्रेरणा से मिला हुआ यह प्रसाद कार्यकर्ताओं के लिए तो प्रेरक और कल्याणप्रद पाथेय है ही, और जो भी इसका रसास्वादन करेगा, कृतकृत्य हुए बिना न रहेगा। अहिंसक क्रान्ति के मूल-तत्त्व इसमें आ गये हैं। जो लोग अहिंसक समाज की रचना के लिए उत्सुक हैं, उनके लिए यह एक उत्तम मार्गदर्शन है।

———

मुक्त-आनन्द
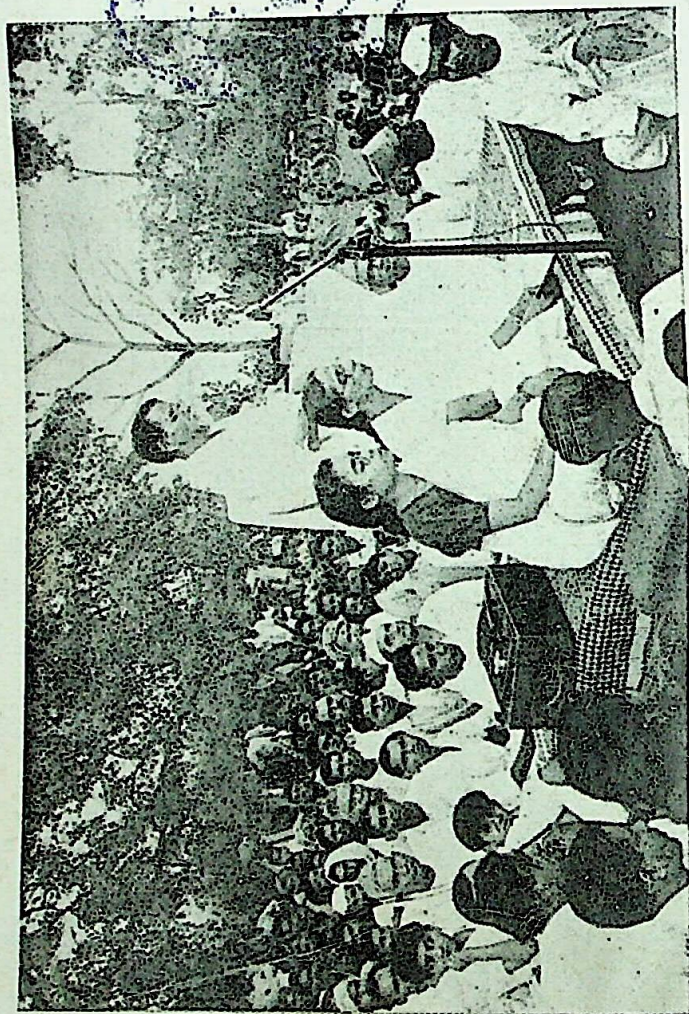
प्रार्थना में·····

अमृत-कण

परमेश्वर का साक्षात्कार करना ही जीवन का एकमात्र उचित ध्येय है। जीवन के दूसरे सब कार्य यह ध्येय सिद्ध करने के लिए होने चाहिए।

परमेश्वर ही सत्य है और सत्य परमेश्वर है।

सत्य की अविश्रांत खोज किये जाना, तथा जैसा और जितना सत्य जान पड़ा हो, उसका लगन के साथ आचरण करना—इसीका नाम सत्याग्रह है, और यह परमेश्वर के साक्षात्कार का साधन-मार्ग है।

सत्य और अहिंसा—सिक्के की दो पीठों की भाँति एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। जैसे अहिंसा के बिना सत्य की सिद्धि सम्भव नहीं है, वैसे ही ब्रह्मचर्य के बिना सत्य तथा अहिंसा—दोनों की सिद्धि अशक्य है।

उपासना का अर्थ है—परमेश्वर के पास बैठना। सत्यरूप होने का नाम है, उपासना। सत्यरूप होने की तीव्र इच्छा करना, भगवान् से विनती करना, प्रार्थना है।

सत्यरूप होने का अर्थ है, निर्विकार होना।

निर्विकार होने के लिए विकारी विचार भी उत्पन्न न होने देने चाहिए।

सत्यरूप ईश्वर सबमें बसता है, इसलिए जीवमात्र से ऐक्यसाधन आवश्यक है। इसका अर्थ है, जीवमात्र की सेवा करना। अतः निष्काम सेवा भी उपासना ही मानी जायगी।

—गांधीजी

अ नु क्र म

कार्यकर्ता-पाथेय

प्रार्थना : क्यों, क्या और कैसे ? : १ :

आशा देवी का सुझाव है कि आज प्रार्थना के बारे में कुछ बातें बताऊँ, तो अच्छा रहेगा।

हमें यह समझ लेना होगा कि प्रार्थना में कैसी शक्ति है। अंग्रेजों के आने के बाद अंग्रेजों से और ख्रिस्ती धर्म से हमारा सम्बन्ध स्थापित हुआ और हमें ऐसा लगा कि सामूहिक प्रार्थना का हम भी उपयोग करें। नमाज जैसी साप्ताहिक प्रार्थना की बात हमारे लिए नयी नहीं थी। हमारे धर्म में तो दैनिक वन्दना, सन्ध्या, दिन में दो बार होती है। इसलिए हफ्ते में एक बार प्रार्थना का महत्त्व हमारे ध्यान में नहीं आया। पर जब ख्रिस्ती धर्म का अनुकरण चला, तो 'ब्रह्म-समाज' निकला। ब्राह्मों ने साप्ताहिक प्रार्थना शुरू की। लेकिन जैसे हम रोज खाना खाते हैं, सप्ताह में एक बार ही नहीं खाते, वैसे ही जीवन में दैनिक नियमितता होनी चाहिए। सूरज रोज डूबता है, रोज उगता है। इसलिए हमें भी रोज नया-नया विचार करना चाहिए।

प्रार्थना की खूबी

प्रार्थना के लिए मैं हमेशा स्नान, भोजन और नींद--ये तीन मिसालें देता हूँ। तीनों की जो खूबियाँ हैं, वे प्रार्थना में हैं। नींद से मनुष्य को उत्साह और विश्राम मिलता है, प्रार्थना से भी मन को विश्राम और आध्यात्मिक उत्साह मिलता है। भोजन से शरीर का पोषण होता है, प्रार्थना से भी मन का पोषण होता है। स्नान से शरीर

की शुद्धि होती है, तो मन की शुद्धि प्रार्थना से होती है। इस प्रकार तीनों के मिलने से शरीर के लिए जो काम बनता है, वही मन के लिए प्रार्थना से बनता है। परंतु मानसिक पोषण, विश्राम, शान्ति और मानसिक निर्मलता हमें सप्ताह में सिर्फ एक बार नहीं; बल्कि रोज-रोज चाहिए। जैसे शरीर का क्षय होता रहता है, वैसे ही मन का भी क्षय होता रहता है। हफ्ते में जो प्रार्थना शुरू हुई, उससे रोज की प्रार्थना अच्छी है। रविवार का महत्त्व हम मानते हैं, लेकिन हम चाहते हैं कि प्रार्थना रोज हो। प्रार्थना से मन को रोज पोषण मिले, शान्ति मिले, स्वच्छता और शुद्धता मिले। हम शान्ति, शुद्धि, पुष्टि चाहते हैं और इन तीनों की अपेक्षा प्रार्थना से रखते हैं।

प्रार्थना क्यों ?

प्रार्थना का मानी क्या है ? प्रार्थना सामूहिक भी होती है, व्यक्तिगत भी। व्यक्तिगत तौर पर प्रार्थना करने से मनुष्य शुद्ध संकल्प करता है। आत्मा में संकल्पशक्ति पड़ी है। आत्मा की व्याख्या है, संकल्प का अधिष्ठान। जिससे स्फूर्ति मिलती है, वही आत्मा है। हम अनेक काम करते हैं। परिणाम यह होता है कि संकल्प के बदले विकल्प भी होते हैं। शुभ संकल्प बनता नहीं, इसलिए आत्मा की संकल्प-शक्ति प्रकट नहीं होती। कभी-कभी संगति के कारण, घर के कारण, तालीम के कारण, आत्मा की शुद्ध शक्ति प्रकट नहीं होती। अतः उसकी शुद्ध शक्ति के प्रकाशन के लिए हम इकट्ठे होते हैं और प्रार्थना करते हैं, सामूहिक प्रार्थना करते हैं।

प्रार्थना और ईश्वर का सम्बन्ध

कोई पूछेगा कि ईश्वर का इससे क्या सम्बन्ध है ? प्रार्थना में हम ईश्वर से ही आशीर्वाद माँगते हैं। हम शरीर में हैं। शरीर को पहचाननेवाले, शरीर से काम लेनेवाले 'हम' शरीर से भिन्न हैं। शरीर कमजोर रहा, तो भी हम कमजोर नहीं होते। शरीर से हम जैसे कमजोर नहीं होते, वैसे ही बलवान भी नहीं होते। इस

तरह हम शरीर से अलग हैं, यह स्पष्ट होता है। कभी-कभी हम कहते हैं कि हमारी स्मरणशक्ति ठीक काम नहीं कर रही है, क्या करें ? इस तरह पूछनेवाला, सोचनेवाला, शरीर को मजबूत कैसे किया जाय, यह सोचनेवाला, चिन्ता करनेवाला, शरीर से अलग ही है। बुद्धि की भी बात ऐसी ही है। बुद्धि कभी क्षीण हो जाती है, काम नहीं करती। इसका मतलब यह है कि हम बुद्धि से भी अलग हैं। इस तरह हम सोचेंगे तो शरीर, मन, बुद्धि से हम भिन्न हैं, यह अनुभव होगा। जैसे, पिण्ड से ब्रह्म अलग है। तो, ब्रह्म को और पिण्ड को अलग-अलग सँभालनेवाला कोई है। यह काम करनेवाली जो शक्ति है, वही ईश्वर है। शरीर प्रतिबिम्ब है, ब्रह्म बिम्ब है। यहाँ आँख है, वहाँ सूर्य है। यहाँ खून है, वहाँ पानी है। यहाँ हड्डी है, वहाँ लोहा है। इस तरह सृष्टि में भी कोई है, जो ईश्वर है।

ईश्वर से क्या सम्बन्ध है ? प्राण-शक्ति को बाहर की खुली स्वच्छ हवा मिलती है, तो प्राण-शक्ति मजबूत होती है। कहीं आँख खराब हुई, तो सूर्य की किरणों की शक्ति से हम उसको मजबूत करते हैं। इस तरह ब्रह्माण्ड में जो शक्ति पड़ी है, वह लेकर हम पिण्ड की पूर्ति कर लेते हैं। जैसे ये भौतिक अनुभव हैं, वैसे ही नैतिक अनुभव भी हैं। हम आत्म-शक्ति को बाहर से परमात्मा की शक्ति लेकर बलवान बनाते हैं। परमात्मा की मदद लेने के लिए प्रार्थना होती है। अपनी सारी कमजोरियों को हम वहाँ खोल देते हैं और वहाँ से बल लेते हैं। इसीके लिए प्रार्थना होती है।

सन्तों की वाणी का उपयोग

इस प्रक्रिया में हम सन्तों की वाणी का क्यों उपयोग करते हैं ? अपनी भाषा में हम अपनी भावना प्रगट कर सकते हैं, लेकिन हमारे पास भाषा नहीं है, इसलिए सन्तों से हम वाणी लेते हैं। सन्त-

वाणी का मतलब यही है कि हमारी वाणी दुर्बल है। इसलिए हम उस वाणी से शब्द चुन लेते हैं, अपनी वाणी से नहीं।

व्यापक प्रार्थना

हिन्दुस्तान बड़ा व्यापक देश है। व्यापक देश में हम काम करना चाहते हैं, तो हमें व्यापक काम ही करना चाहिए। हिन्दुस्तान का मसला हम तय करते हैं, तो दुनिया का मसला हम तय कर सकते हैं। हिन्दुस्तान में जितनी विविधता है, उतनी दुनिया में भी है। प्रांत-भेद, भाषा-भेद, धर्म-भेद, जाति-भेद, इस तरह की विविधता वहाँ भी है। इसलिए अगर हम हिन्दुस्तान का मसला हल करते हैं, तो दुनिया का भी हल कर सकेंगे। अतः अपनी प्रार्थना भी व्यापक होनी चाहिए। किसीको उज्र हो, वैसी नहीं होनी चाहिए। प्रार्थना में हम ऐसे शब्द चुनें, जिसमें सबको अनुकूलता हो। और हमारे मन में यह आग्रह न रहे कि जिस प्रकार से हम प्रार्थना करते हैं, उसी प्रकार से सबको प्रार्थना करनी चाहिए; क्योंकि जो भोजन हमें अच्छा लगता है, वह संभव है, दूसरों को अच्छा न लगे। यही हाल प्रार्थना का भी हो सकता है। इसलिए हम आग्रह नहीं करते। लेकिन जो लोग सर्वोदय में हैं, उनको मैं सुझाव जरूर दूँगा कि उनके लिए यह प्रार्थना* अनुकूल है। शाम की प्रार्थना में स्थितप्रज्ञ के लक्षण और सुबह की प्रार्थना में ईशावास्योपनिषद्, ये दोनों मुख्य बातें हैं।

'स्थितप्रज्ञ' का महत्त्व

स्थितप्रज्ञ-लक्षण में एक खूबी है कि वह साधक के लिए है। स्थितप्रज्ञ के पूर्ण लक्षण उसमें हैं। उन्हें वह कैसे प्राप्त करे, इसका तरीका साधक के सामने रहना चाहिए, यह दृष्टि इस प्रार्थना में है। यह विज्ञान का जमाना है, इसलिए बुद्धि की कसौटी पर ही सारा

---

* देखिये, परिशिष्ट १, २।

विचार इस जमाने में चलता है। 'स्थितप्रज्ञ' स्थिर-बुद्धि पर खड़ा है। इसमें मुख्य वर्णन बुद्धि का ही है। स्थिर-बुद्धि इस जमाने की एक बड़ी आवश्यकता है और वह बुद्धि स्थितप्रज्ञ में है। उसमें ज्ञानियों का सबसे श्रेष्ठ लक्षण हमारे सामने रखा गया है।

सारी व्यवस्था अच्छी रखने के लिए एक चीज जरूरी है और वह है---निर्णय-शक्ति। हम जल्दी निर्णय नहीं कर पाते, लेकिन जीवन-नौका निर्णय के बिना खतरे में है। दुनिया के सामने जो सामाजिक मसले हैं, उनके सामने व्यक्तिगत मसले गौण हैं। फिर भी दोनों में निर्णय-शक्ति की जरूरत है। सामूहिक काम में निर्णय गलत नहीं होना चाहिए। नेतृत्व किसी ऐसे मनुष्य के हाथ में देना चाहिए, जो स्थिर-बुद्धि हो। अमेरिका के प्रेसिडेण्ट फौजी आदमी हैं। उनके निर्णय में गलती हो, तो सारे देश के लिए खतरा होता है। निर्णय करना होता है, तो सारे समाज के लिए करना होता है। विज्ञान-युग में सामूहिक निर्णय को प्रधान पद प्राप्त है, व्यक्ति के निर्णय का पद गौण है। निर्णय-शक्ति बढ़नी चाहिए, तभी देश आगे जायगा। इस जमाने में स्थितप्रज्ञ-दर्शन अपरिहार्य और आवश्यक है। वैसे तो सब जमानों के लिए वह उपयोगी है।

निर्णय का अधिकारी कौन ?

आजकल सारा कारोबार डाँवाडोल है। लोग लाभ और हानि को तौलते हैं। साढ़े नौ हानि हुई और आधा लाभ हुआ, इस तरह तराजू से तौलते हैं। कुछ लोग तराजू हाथ में लेते हैं। कभी एक पलड़ा भारी होता है, कभी दूसरा। ऐसे मौके सामूहिक निर्णय में आते हैं। कभी-कभी मसले पेचीदे होते हैं। उसमें अगर बुद्धि डाँवाडोल रहती है, तो निर्णय खतरे में है। बहुमत से निर्णय करने से क्या सही है और क्या गलत, यह तय नहीं हो सकता। फिर भी तय करना हो, तो चिट्ठी डालकर तय करिये। इसलिए इस जमाने में निर्णय-शक्ति की अत्यन्त आवश्कता है। जिसका मन, इन्द्रिय और बुद्धि काबू में है,

वह निर्णय ले सकता है। लेकिन कभी-कभी सुबह एक हालत होती है, दोपहर में दूसरी। बड़ी फजर दिमाग ताजा रहता है, चित्त प्रसन्न रहता है, तो सत्त्वगुण होता है। थोड़ी देर बाद भूख लगी, तो रजोगुण हो जाता है। कुछ खा लिया, पी लिया, तो नींद आती है, थोड़ा सो लिया, तो तमोगुण आता है। इस तरह एक ही मनुष्य में ये तीनों गुण आते हैं। तो, जो मनुष्य इन्द्रियों के काबू में है, वह निर्णय नहीं ले सकता। इसलिए स्थितप्रज्ञ के लक्षण में इन्द्रिय पर कैसे काबू रखना चाहिए, यह बताया गया है।

मन की भूमिका का अन्त

आज तक हमारे समाज के जो काम चले, वे मन की भूमिका पर चले। मनोविज्ञान से सामाजिक प्रश्नों का निर्णय नहीं हो सकता। हम कहते हैं कि मन गौण है। विज्ञान के जमाने में मन को एक कोने में रखकर ही निर्णय देना होगा। मन को क्या लगता है? इसका अपमान होगा? उसको क्या लगेगा? ये सारे मन के झमेले हैं। राजनीति में तो मान-अपमान बहुत चलता है। किसको चुनाव में खड़ा करना है? इसको खड़ा करें, तो फलाना राजी होगा, उसको खड़ा करें, तो वह नाराज होगा। ये सारे मन के खेल हैं। क्योंकि मन केवल मान-अपमान ही जानता है। यही हालत बड़े-बड़े नेताओं की भी है। लेकिन मान-अपमान मन की भूमिका पर हैं। इसलिए मन की भूमिका से ऊपर उठकर निर्णय करना चाहिए, यह वैज्ञानिक युग में आवश्यक है।

मन के ऊपर जो अवस्था है, उसमें जाकर निर्णय हो, ऐसा अरविन्द ने कहा है। उसे वे Supramental (मन से ऊपर की अवस्था) कहते हैं। यह absolute Philosophy (पूर्ण तत्त्वज्ञान) है। यह सामान्य मनुष्य के लिए आसान नहीं है। हमारे सारे निर्णय में मन ही प्रधान होता है, मन के अनुसार निर्णय होते हैं। इसलिए मन को अलग रखकर निर्णय लेना चाहिए। इस बात का

मुझे अनुभव है। मुझे निर्णय में कभी कोई झिझक नहीं होती। एक दफा निर्णय ले लेने पर सारी दुनिया मेरे विरुद्ध जाय, तो भी मुझे परवाह नहीं होती। कारण, इन्द्रिय-निग्रह है। मन पर काबू रखकर फैसला लेना मैं जानता हूँ। मन को अलग रखना और अलग रखकर निर्णय लेना मैं जानता हूँ। तो, यह जो दृढ़ता है, वह मन की भूमिका पर रहनेवालों में नहीं होती। अतः मन को अलग फेंक देना चाहिए। फिर जो निर्णय होगा, उस पर आप ऐसे पक्के होंगे कि पचास लोग पचासों बातें बतायेंगे, आप बदलेंगे नहीं। इसलिए स्थितप्रज्ञ के लक्षण प्रार्थना में रखने का मेरा सुझाव है, आग्रह नहीं।

जीवन-निष्ठा

सुबह की प्रार्थना में जीवन की निष्ठा है। निर्णय की शक्ति हाथ में कैसी होगी, यह चित्र उसमें है। ज्ञान की महिमा उपनिषद् गाती है। उसमें अज्ञान की भी महिमा गायी गयी है। एक अद्भुत दर्शन उसमें है। चौबीसों घंटा ज्ञान चले, तो थकान आयेगी। इसलिए आठ घंटे अज्ञान भी चाहिए, याने निद्रा की जरूरत है। इसलिए दुनिया में जैसे ज्ञान रहना चाहिए, वैसे ही अज्ञान भी रहना चाहिए। कॉलेज में जो तालीम दी जाती है, वह श्रीमान् के घर के भोजन के जैसी होती है। उसमें सलाद वगैरह पचीसों चीजें रहती हैं, याने वह गरीब का खाना नहीं होता। गरीब का खाना है—भात, रोटी और थोड़ी-सी दाल। श्रीमान् के घर के खाने में थोड़ा भात, थोड़ी चटनी, थोड़ी रोटी, इस तरह पचासों चीजें रहती हैं। वैसे ही कॉलेज में तालीम चलती है। बेचारे विद्यार्थी पर इतने विषयों का हमला होता है। सम्पादकों का भी वही हाल होता है। जितनी घटनाएँ दुनिया में घटेंगी, सब पर उसको लेख, टिप्पणी लिखने की जिम्मेवारी रहती है। इसलिए तरह-तरह के सारे ज्ञान मनुष्य हासिल करता है और बिल्कुल निर्वीर्य बनता है। इसकी जरूरत नहीं। इस तरह बोझील ज्ञान नहीं चाहिए। इससे विकास नहीं होता।

जितनी आत्मज्ञान की आवश्यकता है, उतनी और किसी चीज की नहीं। विकास और निरोध, दोनों की आवश्यकता है; और दोनों को अलग रखकर आत्मज्ञान की भी आवश्यकता है। तो, जितना जरूरी है, उतना ही ज्ञान हासिल करना चाहिए। नाहक बोझ नहीं लादना चाहिए। परमेश्वर के सामने अपना दिल खुल सकता है। यह एक समता-दर्शक चीज है। इतने थोड़े में ऐसी पूर्ण चीज हमें और कहीं नहीं मिली। इसलिए ईशावास्योपनिषद् का सुझाव रखा है। बाकी और जो चाहे जोड़ दो। अच्छे-अच्छे भजन, भिन्न-भिन्न धर्म-ग्रन्थों से ले सकते हैं। लेकिन ईशावास्योपनिषद् प्रार्थना में रखते हैं, तो हम बचेंगे, हम लोग एक-रस बनेंगे।

प्रार्थना कैसे करें ?

गांधीजी ने प्रार्थना चलायी। उससे गांधीजी को स्फूर्ति मिलती थी हमने तो प्रार्थना का 'रूटीन' (दैनिक क्रम) बना डाला है। प्रार्थना के पहले हमको तैयार होना चाहिए। मौन रखकर शान्त बैठना चाहिए। जो बोला जाय, उसीका चिन्तन करना चाहिए, लेकिन उस वक्त नहीं। तब तो मन्त्र का उच्चारण होना चाहिए। लेकिन होता उल्टा है। वह चीज रोज-रोज बोली जाती है, तो हमारी वाणी से सिर्फ शब्द निकलते हैं, उस पर हमारा ध्यान नहीं रहता। हम सिर्फ मन्त्र बोलते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए। मन्त्र के साथ भजन भी चाहिए। इतना ही नहीं, भजन बदलने भी चाहिए। इस तरह चलेंगे, तो हम बचेंगे।

प्रार्थना में जड़ता न हो

भक्ति-मार्ग में क्या हुआ था? मान लिया गया था कि मनुष्य कमजोर है, पापी है। इसलिए कम-से-कम क्या होना चाहिए, तो भक्ति होनी चाहिए। आगे उसमें आरोपण हुआ कि भक्ति है, तो हम ज़िन्दा हैं। हमारा सब जाय, पुण्य भी जाय, ज्ञान भी नष्ट हो, पर

भक्त बने रहें, तो हम बचेंगे। लड़ाई में खन्दक रहते हैं, वे इसलिए कि सैनिक पीछे न हटें, चाहे वे आगे बढ़ें या न बढ़ें। भक्ति का यह अपना ऐसा स्थान है कि उससे हम पीछे न हटें। पर, उसके साथ जो सारा सुधार चाहिए, वह नहीं रहा। इसलिए उसमें निष्क्रियता आ गयी। भक्ति का रूपान्तर जन-सेवा में होना चाहिए था, वह नहीं हुआ। इसलिए जड़ता आ गयी। प्रार्थना में यह नहीं होना चाहिए।

कभी-कभी भजन नशे के मुआफिक हो जाता है। रात-रात तक लोग जागते हैं, भजन करते हैं। यह एक तरह का व्यसन ही है। वे लोग दिन में सोते हैं। तो, जो दिन में काम किये बिना सो सकते हैं, ऐसे ये 'श्रीमान् भक्त' हैं। यह ठीक नहीं है। लोग कहते हैं कि यूरोप आगे है, हम पीछे हैं। लेकिन उनका मजदूर दिन भर की थकान के बाद शराब पीता है और हमारा मजदूर हरि-कीर्तन करता है। इस पर से समझ में आयेगा कि कौन आगे है ? यह तो ठीक ही है कि हम उनका आदर करते हैं, गौरव करते हैं। गुणों का ही गौरव और अनुकरण होना चाहिए।

समत्वयुक्त कर्मयोग

हमें प्रार्थना पचानी है, हजम करनी है। दिन भर हम खाते नहीं, हजम करते हैं। भोजन तो दस-पन्द्रह मिनट में हो जाता है। पर, उसे हम दिन भर हजम करते रहते हैं। वैसे ही प्रार्थना में भी पन्द्रह मिनट खा लिया, तो अब उसको दिन भर हजम करना होता है। दिन भर उसे कार्य में प्रकट करना है। हम प्रार्थना की नशा तो नहीं चाहते, लेकिन प्रार्थना को हम 'समत्वयुक्त कर्मयोग' में प्रकाशित करना चाहते हैं।

सालवनी (बंगाल)
४-१-'५५

प्रार्थना : तीन प्रश्न

तीन प्रश्न :

(१) आपने कल कहा था कि हमारे जो निर्णय हों, वे मन की भूमिका के परे हों, इस बारे में अधिक स्पष्टीकरण कीजिए।

(२) हमारी सुबह की और शाम की प्रार्थना में जो ईशावास्य का और स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का पाठ होता है, उस बारे में समझाइये।

(३) 'क्वेकर्स' में सामुदायिक मौन प्रार्थना चलती है, उस बारे में आपके क्या विचार हैं ?

उत्तर :

१. मन की भूमिका

आप लोगों ने मार्क्स का यह विचार तो सुना होगा कि मन सृष्टि का बना हुआ है। मन सृष्टि का प्रतिबिम्ब है, छाया है। सृष्टि मन की छाया नहीं है। यूरोप के तत्त्वज्ञान में एक पन्थ ऐसा था, जो कहता था कि सारी सृष्टि हमारे मन से बनी है। उसके विरोध में मार्क्स ने कहा कि सृष्टि कितनी विशाल है और हमारा मन कितना छोटा है; इसलिए मन से सृष्टि बनी है, यह कहना गलत होगा। सृष्टि से ही मन बना है। मार्क्स ने उसका उपयोग किया। उसे Scientific materialism (वैज्ञानिक भौतिकवाद) कहते हैं। याने मन प्रधान नहीं है, सृष्टि प्रधान है। यहाँ सृष्टि ही प्रधान मानी गयी है, मन नहीं।

आत्मा की प्रधानता

हम लोगों ने मन से परे जो आत्मा है, उसको प्रधान माना है और मन को गौण माना है। मन में कभी सुख होता है, कभी

दुःख। मन की सदा एक ही दशा नहीं रहती, वह पलटती रहती है। एक ही दिन में सुबह एक दशा, दोपहर दूसरी दशा, रात तीसरी दशा। इस तरह भिन्न-भिन्न दशाएँ होती हैं। इसलिए जिसका स्वभाव एक ही दिन में कई बार पलटता है, सुबह एक होता है, शाम को दूसरा होता है, सुख में एक होता है, दुःख में दूसरा होता है, उसके आधार पर कोई निर्णय करना गलत है। इसलिए आत्मा से निर्णय करना चाहिए। इसको आत्मवाद कहते हैं।

दो भिन्न-भिन्न मत

वैज्ञानिक कहते हैं कि Objective truth (मन के परे सत्य) की बात करो। मन गौण है, सृष्टि प्रधान है। मान लीजिये कि आपकी बहन मर गयी। इससे आपको बहुत दुःख होता है। अब कुल सृष्टि में उस बहन के मरने से क्या क्षति हुई? इतना ही हुआ कि वह जो कुछ काम करती थी, वह अब नहीं होगा, इतनी ही क्षति हुई; पर वह उतनी ज्यादा नहीं है, जितनी कि तुम मानते थे। इसलिए तराजू में तौला जाने पर पता चलेगा कि जितना तुम समझते हो, उतना कुछ नहीं हुआ। इस तरह वे सृष्टि को प्रधान मानते हैं और मन को गौण। हम आत्मा को प्रधान मानते हैं और मन को गौण। इस तरह भौतिक तत्त्ववेत्ता और अध्यात्मनिष्ठ तत्त्ववेत्ता, दोनों मन को गौण मानते हैं। भौतिक तत्त्ववेत्ता कहते हैं कि निर्णय सृष्टि के साथ सम्बन्ध रखकर करना चाहिए। अध्यात्मनिष्ठ तत्त्ववेत्ता कहते हैं कि अन्तःस्थिति को देखकर, शुद्ध वस्तु क्या है, यह देखकर निर्णय करना चाहिए।

निर्णय कैसे करें?

जो मन की भूमिका में रहकर काम करते हैं, उन्हें न आत्मा का ठीक दर्शन होता है, न सृष्टि का। इसलिए या तो सृष्टि के आधार से निर्णय करो या आत्मा के आधार से, तब ठीक दर्शन होगा। दोनों छोड़कर, मन

के आधार पर काम करने से आत्मा और सृष्टि, दोनों का ठीक दर्शन नहीं होता। इसलिए निर्णय-शक्ति उन्हींकी माननी चाहिए, जिन्हें आत्मा का या सृष्टि का दर्शन है और जिन्होंने अपने मन पर काबू पा लिया है। क्या खाना है, यह जीभ तय करेगी। लेकिन कितना खाना है, यह तो हम तय करेंगे, जीभ नहीं। निर्णय जीभ का नहीं, हमारा है। हम जीभ से कहेंगे कि कोई वस्तु ठीक है या बेठीक, इतना ही तुम बताओ। जैसे जीभ का हम साधन के तौर पर निर्णय करने के लिए उपयोग करते हैं, वैसे ही मन का साधन के तौर पर उपयोग करेंगे। परन्तु निर्णय तो स्वतन्त्र होगा, आत्म-निष्ठ होगा या सृष्टि को देखकर होगा।

मन की जरूरत नहीं

हमारे यहाँ प्राचीनकाल में जो बड़े-बड़े राजा होते थे, उनके सामने जब पेचीदा सवाल आते थे, तब वे सवाल सिर्फ मंत्रिमंडल की सलाह से नहीं हल हो सकते थे। क्योंकि, मंत्री भी राजा के जैसे ही होते थे। इसलिए राजा ऋषि के पास पहुँचता था। ऋषि तटस्थ होते थे और अन्तरात्मा में देखते थे। आध्यात्मिक और व्यावहारिक, दोनों मामलों में निर्णय करते समय आत्म-निष्ठ पुरुष से पूछा जाता था। क्योंकि निर्णय करने का जो साधन है, वह 'परफेक्ट' (पूर्ण) होना चाहिए। जैसे, थर्मामीटर को खुद का बुखार नहीं होता, इसलिए वह दुनिया के लोगों का बुखार ठीक से नापता है; उसी तरह मन की परख उसको होगी, जो मन से अलग होगा। जिसको खुद का मन है, वह दुनिया के मन को नहीं जानता। व्यास भगवान् ने दुनिया में व्यवहार नहीं किया था, परन्तु महाभारत में उन्होंने इतना बारीक व्यवहार लिख दिया है कि व्यवहार करनेवाला भी नहीं लिख सकता। इसका कारण यह है कि जो व्यवहार में नहीं पड़े हैं, वे ही उसको अच्छी

तरह से जान सकते हैं। जैसे, खेल में न पड़नेवाला तटस्थ मनुष्य (अंपायर) खेल को अच्छी तरह से पहचान सकता है, उसी तरह व्यवहार में न पड़नेवाला व्यवहार को पहचान सकता है और ठीक निर्णय दे सकता है। इसलिए निर्णय के लिए मन की जरूरत नहीं है।

बहुमत का निर्णय

स्थितप्रज्ञों का देश के लिए यही महत्त्व है कि वे ठीक निर्णय देते हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ में निर्णय होते हैं, तो जो वहाँ पर बैठे हैं, उनका मन और जिस राष्ट्र के वे प्रतिनिधि हैं, उसका मन काम करता है। कुल मिलाकर मन का ही झगड़ा चलता है। तो फिर शान्ति से निबटारा कैसे हो सकता है? इसलिए आजकल यह बात निकाली गयी कि 'मेजॉरिटी' (बहुमत) से निर्णय हो। पर क्या 'मेजॉरिटी' का निर्णय भी कोई निर्णय है? जहाँ सारे अन्धे इकट्ठे हुए हों और एक आँखवाला हो, तो अन्धों का निर्णय मानना और आँखवाले का न मानना, यह भी कोई बात है?

अन्धों की कहानी

मुझे एक कहानी याद आती है। एक माँ के चार अन्धे लड़के थे। फिर उसे एक ऐसा लड़का हुआ, जिसे आँख थी। वह कहता था कि मुझे यह दीखता है, वह दीखता है। माँ ने सोचा कि इसका जरूर कुछ-न-कुछ बिगड़ा होगा। वह उसे डाक्टर के पास ले गयी और डाक्टर से कहा कि मेरे लड़के का कुछ बिगड़ा है, क्योंकि वह कहता है कि मुझे कुछ दीखता है, सो इसे दुरुस्त कीजिये। डाक्टर ने उसका ऑपरेशन किया और उसको अन्धा बना दिया। तब माँ ने और भाइयों ने सोचा कि वह ठीक हो गया है, हमारे जैसा ही बन गया है। ऐसा किसलिए हुआ? क्योंकि, 'मेजॉरिटी' अन्धों की थी। इसलिए यह जो 'मेजॉरिटी' वाला मामला है, वह बिलकुल ही mechanical (यांत्रिक) है, उसमें अक्ल नहीं है।

मन को अलग कैसे करें ?

अब सवाल पैदा होता है कि मन से आत्मा को कैसे अलग किया जाय ? मन का निर्णय सृष्टि के विरोध में भी जाता है और आत्मा के विरोध में भी जाता है। मन से अपने को अलग करने की साधना कठिन तो है, परन्तु वह कैसे की जा सकती है, इस पर सोचना होगा। अब मैं एक मिसाल देता हूँ। मेरी घड़ी हर रोज पाँच मिनट पीछे जाती है। इसलिए मैं रात को उसे पाँच मिनट आगे करके सो जाता हूँ। मैंने उसको पहचान लिया है। वैसे ही अगर हम अपने मन को पहचान सकें और मन में क्या कमज़ोरी है, उसे पहचानकर उस कम-जोरी को प्रकट होने का मौका न देंगे, तो हम कमजोर नहीं बनेंगे। अगर मन से अलग होने की तरकीब जान लेंगे, तो हम मजबूत बनेंगे। माना, मेरा हाथ कमजोर है और मैं इस बात को जानता हूँ। अब शरीर से काम तो लेना है, तो हाथ से ज्यादा बोझ नहीं उठाऊँगा और शरीर से ठीक काम लूँगा। इसका मतलब यह हुआ कि मेरा हाथ कमजोर है, मैं कमजोर नहीं हूँ। उसी तरह मैं पहचान लूँ कि मेरा मन कमजोर है, तो मैं कमजोर नहीं बनूँगा।

अलगाव पहचानें

अगर मैंने पहचान लिया कि मेरे मन के अन्दर आसक्ति पड़ी है और उस आसक्ति को मौका देने पर मैं खतरे में आ जाता हूँ, तो उसे मौका नहीं दूँगा। इस तरह जिसने अपने कमजोर मन को पहचान लिया, वह खुद कमजोर नहीं बनेगा। उसी तरह हमने अपनी बुद्धि की भी कमजोरी को पहचान लिया और यह देखा कि मुझमें ज्यादा बुद्धि नहीं है, तो दूसरों की अच्छी बुद्धि का मैं उपयोग करूँगा। इस तरह जिसने अपनी कमजोर इन्द्रियों, कमजोर मन और कमजोर बुद्धि को पहचान लिया, वह खुद कमजोर नहीं बनेगा। अगर मेरी आँख खराब हुई और सुधरी नहीं, तो इसका मतलब यह नहीं हुआ कि मैं बिगड़ा हूँ। उस कमजोर आँख से कैसे काम लिया

जाय, यह मैं जानता हूँ। इस तरह अपनी सारी कमजोरियों के साथ भी मनुष्य बलवान बन सकता है। अगर आप अपने कमजोर शरीर को, मन को या बुद्धि को प्रयत्न करके मजबूत बना सकें, तो बनायें; लेकिन अगर वे नहीं बन सकते, तो उनसे अपना अलगाव पहचानें। हम यह अलगाव नहीं पहचानते, इसीलिए मान-अपमान का यह सारा खेल चलता है, जिससे न हम आगे बढ़ते हैं, न समाज आगे बढ़ता है, न दुनिया आगे बढ़ती है।

इस तरह इधर आत्मज्ञान और उधर विज्ञान है। इन दोनों के बीच यह मन नाहक गड़बड़ करता है, तो उसे काबू में रखना चाहिए। आत्मज्ञान और विज्ञान, दोनों की दृष्टि से मन को काबू में रखना जरूरी है।

२. प्रातः-सायं की प्रार्थना

अब मैं आपका दूसरा सवाल लेता हूँ।

स्थितप्रज्ञ और ईशावास्योपनिषद् के शब्द उच्चारण में ही कठिन हैं, तो सामान्य मनुष्य के लिए वे किस काम के हैं, ऐसा कहा जा सकता है। लेकिन यह गलत है। शब्द चाहे कठिन हों, पर विचार कठिन नहीं हैं। उनकी भाषा को भी आसान बनाया जा सकता है। उनमें जो बात है, उसको एक बालक भी ठीक से समझ सकता है। वही मनुष्य ठीक से निर्णय देगा, जो राग-द्वेष-रहित होगा। मान लीजिये, ऐसी कोई मशीन है, तो हम कहेंगे कि उसीसे सबसे श्रेष्ठ उत्तर मिलेगा।

निर्णय की प्रधानता

स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में निर्णय की प्रधानता है। भक्त के लक्षणों में प्रेम का महत्त्व है। वहाँ पर मैत्री, करुणा आदि भक्त के लक्षण बताये गये हैं। कर्म-योगी का लक्षण है कि वह सतत काम करता है। उसे आलस्य मालूम नहीं होता। इन गुणों का महत्त्व जरूर है।

प्रेम और कर्म के महत्त्व को हम पहचानते हैं। तिस पर मुख्य बात तो निर्णय ही है। प्रेम सही रास्ते पर है या गलत रास्ते पर, इसका निर्णय कौन देगा ? प्रेम खुद तो निर्णय दे नहीं सकता, वह तो अन्धा होता है। वह गलत राय भी दे सकता है। प्रेम से द्वेष भी पैदा हो सकता है। किसीने बच्चे का अपमान किया, तो माँ चिढ़ जाती है। उसके मन में उस शख्स के लिए द्वेष पैदा होता है और वह उस अपमान को कभी भूलती नहीं है। इसलिए अगर प्रेम ठीक रास्ते पर न चले, तो उससे द्वेष भी पैदा हो सकता है। प्रेम की महिमा अपार है। परन्तु ठीक रास्ते पर उसे कौन लायेगा ? इसी तरह कर्म की महिमा अपार है, पर उसे ठीक रास्ते पर कौन लायेगा ? इसलिए आखिरी गुण प्रज्ञा है, निर्णय-शक्ति है, जिससे व्यक्ति और समाज ठीक रास्ते पर चल सकते हैं। यह बात तो एक लड़का भी समझ सकता है। हिन्दुस्तान के लोग व्यक्ति को फौरन् पहचान लेते हैं। अगर हम भूदान का काम करने के लिए कहीं गये और गुस्सा हो गये, तो लोग फौरन् पहचान लेते हैं कि अरे, यह तो हमारे जैसा ही सामान्य मनुष्य है। हिन्दुस्तान का किसान भी सत्पुरुष की ठीक पहचान करता है।

ईशावास्य की सीधी बातें

ईशावास्य में जो कहा गया है, वह भी समझने में आसान है। सतत काम करना चाहिए, नहीं तो हम दूसरों पर बोझ हो जाते हैं, दूसरों के धन की वासना नहीं करनी चाहिए, अपनी इन्द्रियों को कभी-कभी विकास के लिए खुला रखना चाहिए और कभी-कभी निरोध के लिए बन्द रखना चाहिए। कुछ चीजों को जानना चाहिए और कुछ चीजों को नहीं जानना चाहिए। ये जो बातें ईशावास्य में कही हैं, उन्हें समझना सामान्य मनुष्य के लिए भी कठिन नहीं है। हाँ, यह हो सकता है कि हमने उसका जो अनुवाद किया है, वह कठिन हो तो, उसे हम आसान बना सकते हैं।

३. मौन की महिमा

अब मैं तीसरा सवाल लेता हूँ। ……मौन की महिमा अपार है। मौन की महिमा इतनी है कि उसके लिए जो संस्कृत शब्द है, वह अपनी विशेषता रखता है। कई भाषाओं में अपने खास-खास शब्द होते हैं, जिनका तरजुमा दूसरी भाषाओं में करना कठिन हो जाता है, क्योंकि उन शब्दों के पीछे साधना होती है। वैसे ही संस्कृति का 'मौन' शब्द है। मौन का मतलब है, 'मुनि की वृत्ति'। मौन का मतलब सिर्फ जीभ से न बोलना ही नहीं है। जीभ से न बोलने पर भी मन में तो विचार आते ही रहते हैं। इसके लिए इंग्लिश शब्द है—Silence (साइलेन्स)। उसमें बाहर से न बोलना, इतना ही आ पाता है। परन्तु मौन में और एक बात आती है। मौन का मतलब है कि मन में शान्ति होनी चाहिए। इसलिए वह बहुत ही शक्तिशाली शब्द है।

'क्वेकर्स' लोगों में प्रार्थना मौन का उपयोग किया जाता है, यह बहुत ही अच्छी बात है। हमने सुना है श्री अरविन्द के आश्रम में भी साधक ध्यान करते थे और पाँच-दस मिनट बोलते नहीं थे। वह एक बात है। सब लोग एकत्र बैठते हैं, जैसे खाने के लिए एकत्र बैठते हैं, तो खाने की रुचि, उसका स्वाद बढ़ता है। इसी तरह प्रार्थना में खाने एकत्र बैठते हैं, तो भक्ति की रुचि बढ़ती है। वैसे ही मौन में सब एकत्र बैठें, तो चित्त पर उसका व्याख्यान से भी ज्यादा असर होता है। और, अगर उसकी आदत हो जाय, तो संगीत से भी ज्यादा असर होता है। मैं मानता हूँ कि संगीत का बहुत असर होता है, लेकिन उससे भी ज्यादा असर मौन का हो सकता है।

कुछ हालतों में मौन तकलीफ देनेवाला साबित हो सकता है और संगीत अच्छा मालूम हो सकता है, जैसे कि बीमारी में होता

है। परन्तु चाहे जितना अच्छा संगीत हो, अगर वह घण्टों तक चले, तो अच्छा नहीं लगता। तब इच्छा होती है कि कुछ देर तक शान्ति रहे। मेरे कहने का मतलब यही है कि कम-से-कम संगीत की बराबरी की शक्ति तो मौन में है ही।

मनुष्य को लगता है कि मौन लेने पर मन इधर-उधर दौड़ता है। इसलिए गांधीजी ने दो मिनट मौन रखने की बात चलायी। यह बहुत अच्छा लगा मुझे। वैसे व्यक्तिगत तौर पर मौन तो अच्छा है ही, परन्तु सामूहिक तौर पर भी मौन अच्छी वस्तु है। 'क्वेकर्स' में यह चलता है, तो वह हमारे लिए अनुकरणीय है। निर्णय के लिए भी मौन सहायक होता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि चर्चा चलती है और दलीलें गोल-गोल घूमा करती हैं। इससे निर्णय नहीं निकल पाता। ऐसे समय पर सब लोग कुछ समय के लिए शांत रहें, फिर घर चले जायँ और दो-चार दिन के बाद फिर से मिलें, तो निर्णय हो सकता है। इसलिए मौन को प्रार्थना का अंग माना जाय, इस बात को मैं अच्छी और लाभदायी समझता हूँ।

गोदापियासाल,
मेदिनीपुर (बंगाल)
१५-१-'५५

अपरिग्रह की साधना : ३ :

आज आप लोगों ने अपरिग्रह के बारे में पूछा है।

"अपरिग्रह" कोई नया शब्द नहीं है, पुराने जमाने से हमारे देश में चला आ रहा है। लेकिन इसके बारे में यह कल्पना कर रखी गयी है कि अपरिग्रह संन्यासियों का गुण है, गृहस्थों के लिए तो परिग्रह होना चाहिए।

गलत बँटवारा

माना यह गया कि स्वर्ण का संग्रह संसार के लिए, गृहस्थ के लिए बहुत जरूरी है। हालत यहाँ तक पहुँच गयी कि किसीने यदि किसीके घर में चोरी की, तो छोटा पाप माना गया; लेकिन सोना चुरा लिया, तो वह बड़ा पाप हो गया। स्वर्ण माने अनेक वर्षों की कमाई। उसको कोई ले गया, तो उसने 'महापातक' किया। इतनी स्वर्ण की महिमा मानी गयी। परिग्रह की महिमा गृहस्थ के लिए और अपरिग्रह की संन्यासी के लिए, ऐसा बँटवारा कर दिया गया। होना तो यह चाहिए था कि सद्गुण सबके लिए लागू होता, लेकिन हुआ इससे उल्टा। गृहस्थ का परिग्रह यदि सीमित कर देते, तो भी बच जाते। लेकिन, वह भी नहीं किया।

सादी रहन-सहन

हमारे लिए सोचने की बात यह है कि हम कार्यकर्ता हैं। कार्यकर्ता अपने को किस हैसियत से देखता है? उसे इस बात का खयाल रखना है कि वह जन-समाज का सेवक है। जन-समाज उसका मालिक है। जन-समाज की हालत यदि अच्छी है, तो हमारे जीवन की भी एक स्थिति होगी। वह यदि खराब है, तो हमें भी कुछ तकलीफ उठानी होगी। इस दृष्टि से मैं आशा करूँगा कि कार्यकर्ता की रहन-सहन सादी-से-सादी हो। वह भोजन के अलावा और चीजों में

बहुत ही कम खर्च करे। होता यह है कि मध्यम श्रेणी में भोजन पर बहुत कम खर्च होता है। पुस्तक, सफर, बच्चों की तालीम, दवा-दारू आदि दूसरी चीजों पर ही बहुत ज्यादा खर्च होता है। होना यह चाहिए कि कार्यकर्ता अधिक-से-अधिक खर्च भोजन पर करे। वह ज्यादा तो न खाय, लेकिन आरोग्य के लिए जो जरूरी हो, वह अवश्य खाय।

योगमय जीवन

दवा-दारू और बच्चों की तालीम में बहुत एहतियात की जरूरत है। बीमारी आती है, तो यह डॉक्टर वह डॉक्टर खोजते हैं। पैसा नहीं है, तो लाचारी है। प्राकृतिक उपचार और सादी दवाओं का इस्तेमाल होना चाहिए। हमने देखा है कि कार्यकर्ता सादगी से रहते हैं और बीमारी होने पर इधर-उधर दौड़ते हैं। इसलिए हमको आग्रह रखना होगा कि कार्यकर्ता को शरीर-यन्त्र का ज्ञान हो। वह प्रकृतिक उपचार करे और छोटी-छोटी दवाओं पर संतुष्ट रहे। वह योगपूर्वक रहे। उसे अपना जीवन योगमय बनाना चाहिए। शरीर में कोई गड़बड़ी हो, तो दोष मानना चाहिए। दवादारू का खर्च कार्यकर्ता के जीवन में मैं एक कौड़ी भी मानने के लिए तैयार नहीं हूँ। एक मर्तबा हमने ऐसा नियम चलाया था कि जो साल भर बीमार न पड़े, दवा न ले, उसे इनाम देंगे। बीमार पड़े, तो क्यों पड़े, इसका कारण खोज-कर उसे दूर करना चाहिए।

बच्चों की तालीम

दूसरी बात है, बच्चों की तालीम। इसका उत्तम इन्तजाम हो, यह मैं मानता हूँ। पर उत्तम इन्तजाम का अर्थ क्या है? बिहार में हमने देखा कि कार्यकर्त्ता ३० रुपये पर संतुष्ट है, पर बच्चों की तालीम के लिए पैसा चाहता है। यह गलत है। कार्यकर्ता बेकारी की तालीम अपने बच्चों को दे ही क्यों? बच्चा किसी काम में प्रवीण हो जाय, उसे आत्म-विद्या मिले, मातृभाषा का ज्ञान हो, नैतिक व्यवहार

आता हो, बस, इसीको 'नयी तालीम' कहते हैं। हमारा आग्रह किसी खास तालीम का नहीं है। तालीम ऐसी हो, जिस पर ज्यादा खर्च न हो। बच्चों को ऐसी तालीम दें कि किसी पर उसका बोझ मालूम न हो।

किसान का स्तर

ये हुईं दो बातें। बाकी, कार्यकर्ता जीवन में जो सादगी ला सके, लाये। उस हालत में जो खर्च हो, वह मुझे मंजूर। हमारे मालिक किसान हैं। उन किसानों के जीवन-स्तर के हम जितने नजदीक-से-नजदीक रहें, उतना ही अच्छा।

मुझे इस बात का दुःख है कि अपने लिए मुझे दूध-दही लेना पड़ता है, अन्न ले नहीं सकता। उससे मुझे ताजगी रहती है, लेकिन एक दो घंटे मन्द रहता हूँ। कोशिश यह है कि चौबीसों घंटे ताजगी रहे। लोग कहते हैं कि यह योगी है। पर, बाबा को लगता है कि बाबा अनाज नहीं लेता, यह उसके साधुत्व में कमी है। शरीर आप ऐसा रखें, जो किसान की हालत में काम कर सके। अभी खजूर लेने की बात चली थी। मैंने इनकार कर दिया। वह बाहर से लाना होगा। दूध कितना ही महँगा क्यों न हो, गाँव-गाँव में मिल सकता है। तो, किसान के स्तर पर शरीर रखने की हमारी तैयारी होनी चाहिए।

किसान का स्तर बिना शरीर-श्रम के हो नहीं सकता। अगर कार्यकर्ता शरीर-श्रम नहीं करेगा, तो किसान की तरह रह नहीं सकता। यात्री-दलों के लोगों के वास्ते बीमा-सा है कि उन्हें चलना पड़ता है, वरना वे टिक ही नहीं सकते थे। मैं चाहता हूँ कि वे कुछ और काम भी करें। वे घंटे-सवा घंटे मेहनत करें, तो अच्छा हो। इससे उनका जीवन किसान के साथ एकरूप हो सकेगा।

खाद्यशास्त्र का ज्ञान

और एक बात। कार्यकर्ता को रसोई का उत्तम ज्ञान होना चाहिए। इससे थोड़े ही खर्च में अधिक पौष्टिक खुराक मिल सकती है। कैसी

आँच पर पकाना, तरकारी कितनी पकानी, दाल कितनी पकानी, इतना खयाल रहे, तो मजे में अधिक पोषण मिलेगा। फिर अपना अपरिग्रह भी सधेगा।

रसोई की तरह अन्न-शास्त्र का भी ज्ञान होना चाहिए। जैसे आँवले में, अमरूद में विटामिन 'सी' मिलता है। दो तोले अमरूद, आधा तोला आँवला, पाँच-छह तोला पपीता ले लिया, तो 'सी' विटामिन पूरा मिल गया। इस तरह का सारा ज्ञान होना चाहिए।

आसक्ति छोड़ें

इसके अलावा अपरिग्रह में मुख्य वस्तु यह है कि जो कुछ भी परिग्रह करना पड़ता है, उसकी कोई आसक्ति न रहे। इसीलिए हम कहते हैं कि जो लोग सरकार में चले गये हैं, उन्हें जनक महाराज का अनुकरण करना चाहिए और हम लोग जो बाहर काम करते हैं, उन्हें शुकदेव का। या वे विष्णु का अनुकरण करें, हम शङ्कर भगवान् का। विष्णु के पास छाया की तरह लक्ष्मी बैठी है, पर उन्हें इसका पता ही नहीं। उधर शङ्कर भगवान् के पास कुछ है ही नहीं। दोनों हालत में एक ही बात—आसक्ति का न होना। अगर मनुष्य नियमित रूप से चलता है, तो आसक्ति नहीं होती।

बहनों ने पुराने गहने छोड़कर नये गहने बनाये—घड़ी, फाउन्टेनपेन आदि। भाइयों ने भी ये गहने पहन लिये। हमारे एक मित्र की शादी थी। वह यह कहकर घड़ी ले गया कि शादी के बाद वापस कर दूँगा। नाहक ये चीजें लेने की क्या जरूरत है? गांधीजी के पास भी घड़ी थी। एक-एक मिनट का वे उपयोग करते थे। उसी तरह अगर हम भी करें, तो घड़ी रखना ठीक भी माना जायगा। तात्पर्य यह है कि अपरिग्रह स्थूल रूप से ही नहीं, सूक्ष्म रूप से भी साधना होगा।

मेदिनीपुर (बंगाल)
१६–१–'५५

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचय भारतीय संस्कृति का एक खास विषय माना जायगा। यद्यपि दुनिया के सब समाजों में इस पर विचार हुआ है और प्रयोग हुए हैं, फिर भी हिन्दुस्तान के साहित्य और संस्कृत भाषा में ब्रह्मचर्य के बारे में जितना आदर है और उस विषय पर जितना गहरा चिन्तन मिलता है, उतना अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ

'ब्रह्मचर्य' शब्द का मतलब है कि मनुष्य को ब्रह्म की खोज में अपना जीवन-क्रम रखना चाहिए। ब्रह्मचर्य में हमारे सामने कोई 'निगेटिव' (अभावात्मक) बात नहीं रखी गयी, बल्कि 'पॉजिटिव' (भावात्मक) बात रखी गयी है। उसमें किसी खास चीज से परहेज हो, इतनी ही बात नहीं है, बल्कि एक चीज प्रत्यक्ष करने की है। उसी को ब्रह्मचर्य कहेंगे। 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ है—सबसे विशाल ध्येय अर्थात् परमेश्वर का साक्षात्कार करना। उससे कम कोई बात नहीं कही गयी है। इतना विशाल और व्यापक ध्येय है वह।

ब्रह्मचर्य की साधना क्यों ?

किसी अन्य बड़े ध्येय के वास्ते भी ब्रह्मचर्य की साधना की जाती है। जैसे, भीष्म ने अपने पिता के लिए ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा की थी और उसका अच्छी तरह से जिन्दगी भर पालन किया। आगे चलकर वे उस चीज की आध्यात्मिक गहराई में उतरे। उनकी बड़े आत्मनिष्ठ पुरुषों में गिनती होती है। परन्तु उनका आरम्भ ब्रह्म की प्राप्ति के लिए नहीं हुआ था। फिर भी उनका जो ध्येय था, वह बड़ा ही था। अपने पिता के लिए उन्होंने त्याग किया और फिर उसका अर्थ

उन्होंने गहरा सोच लिया। उसी तरह गांधीजी ने भी समाज की सेवा के लिए ब्रह्मचर्य का आरम्भ किया। जब दक्षिण अफ्रीका में वे काम कर रहे थे, तब उनके मन में विचार पैदा हुआ कि सेवा का कार्य करना कठिन है। सेवा के साथ-साथ कुटुम्ब की भी वृद्धि होती जाय, बाल-बच्चे भी पैदा होते जायँ, यह नहीं चलेगा। इसलिए उन्होंने फैसला किया कि समाज की सेवा के लिए ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है। लेकिन बाद में उनका विचार उस चीज की गहराई में पहुँचा। इस तरह गांधीजी ने भी जो आरम्भ किया, वह अन्तिम उद्देश्य से, ब्रह्म की प्राप्ति के उद्देश्य से नहीं किया, बल्कि समाज-सेवा के लिए किया। वह भी एक विशाल ध्येय है। फिर उनका विचार विकसित होता गया। इस तरह किसी व्यापक और विशाल ध्येय के लिए भी आरम्भ करके फिर आगे बढ़ना होता है।

इसी तरह ब्रह्मचर्य दूसरी बातों के लिए भी होता है। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो 'साइन्स' (विज्ञान) के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। 'साइन्स' के लिए वे इतने एक-निष्ठ होते हैं कि उस हालत में गृहस्थाश्रम में पड़ना उन्हें उचित नहीं मालूम होता। वे ब्रह्मचर्य का ठीक से पालन भी करते हैं। वे विज्ञान में तन्मय हो जाते हैं और इसीलिए उन्हें ब्रह्मचर्य सधता है। तन्मयता में एक बड़ी शक्ति है। किसी एक ध्येय में तन्मय हो जाओ, रात-दिन वही बात सूझे, तो ब्रह्मचर्य सध सकता है। यद्यपि वह पूरा ब्रह्मचर्य नहीं है, कारण जब तक "ब्रह्मनिष्ठा" उत्पन्न नहीं होती, तब तक पूरा 'ब्रह्मचर्य' नहीं कहा जा सकेगा।

सर्वेन्द्रिय-निग्रह

ब्रह्मचर्य में बहुत बड़ी साधना की जरूरत है। सिर्फ एक ही इन्द्रिय का निग्रह ही उसका अर्थ मान लिया जाय, तो खतरा पैदा होगा। उसका अर्थ है—सभी इन्द्रियों पर काबू पाना। इसलिए ब्रह्मचर्य

में दो बातें होती हैं: (१) ध्येय उत्तम होना चाहिए और वह विकसित होते-होते ब्रह्म की उपासना तक पहुँच जाना चाहिए। (२) सब इन्द्रियों पर और मन पर काबू होना चाहिए। इसका मतलब यह नहीं कि इन्द्रियों को और मन को दबाना चाहिए। ब्रह्मचर्य में यह बात है कि उनको उचित दिशा में ले जाना है। अगर दबाने के खयाल से काम चला, तो मनुष्य का विकास नहीं होगा। वह तो 'निगेटिव बात है। इसलिए सब इन्द्रियों का उचित उपयोग हो, इन्द्रियों का उचित नियमन हो, तो साधकों को बहुत लाभ होता है।

हर आश्रम में ब्रह्मचर्य

इस दृष्टि से हिन्दुस्तान के धर्म-विचार में सुव्यवस्थित आयोजन किया गया है। मनुष्य में सर्वप्रथम गुरु-निष्ठा होनी चाहिए। उसके साथ ब्रह्मचर्य जोड़ दिया। यह हुआ पहला आश्रम, ब्रह्मचर्याश्रम। फिर दूसरा आश्रम आता है; गृहस्थाश्रम। उसमें पति-पत्नी की एक-दूसरे के लिए निष्ठा आती है। उसके साथ भी ब्रह्मचर्य जोड़ दिया। उसके बाद आता है, वानप्रस्थाश्रम। उसमें समाज-निष्ठा के साथ ब्रह्मचर्य जोड़ दिया। और फिर अन्तिम संन्यास आश्रम में ब्रह्मनिष्ठा होती है। उसके साथ भी ब्रह्मचर्य जोड़ दिया। इस तरह पहले से आखीर तक, ब्रह्मचर्य के लिए विचार रख दिया है। विचार से ही पोषण मिलता है। बिना विचार के काम नहीं होता। हम पैदल घूमते हैं, तो श्रम तो होता ही है, लेकिन हम एक उद्देश्य से घूमते हैं। इसलिए वह श्रम हमें मालूम नहीं होता। तो वह श्रम नहीं हुआ, 'तप' हुआ। नहीं तो वह 'ताप' बन जाता। बिना विचार के तकलीफ उठायी जाय, तो ताप होता है, परन्तु विचार से तकलीफ उठायी जाय, तो वह आनन्दमय ही होती है। इसलिए उसको 'तप' कहा जाता है।

जीवन की बुनियादी निष्ठा

ब्रह्मचर्याश्रम में गुरु-निष्ठा की बात थी। अध्ययन करना था। उसके साथ ब्रह्मचर्याश्रम आता है। इस तरह मनुष्य के जीवन

के लिए बुनियाद बन जाती है। ब्रह्मचर्य बुनियादी निष्ठा है। आज-कल 'बुनियादी तालीम' की बात की जाती है। उसका मतलब है कि जो चीजें सारे जीवन में काम आती हैं, जैसे—उद्योग वगैरह, उनकी बुनियाद पक्की हो। परन्तु ब्रह्मचर्य इन सबसे बड़ा गुण है। वह ऐसा गुण है, जिससे मनुष्य को नित्य मदद मिलती है और जीवन के सब प्रकार के खतरों में सहायता मिलती है। इसलिए बुनियादी तालीम में यही व्यवस्था की जाय कि बच्चों में सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य की निष्ठा पैदा हो।

अध्ययन-काल समाप्त होने के बाद गृहस्थाश्रम आता है। उसमें पति-पत्नी की परस्पर निष्ठा और केवल सन्तान के हेतु से मिलना, यह बात आती है। आजकल दुनिया में यह बात चलती नहीं है, परन्तु लोगों को अगर यह विचार जँच जाय, तो चल सकती है। इस तरह गृहस्थाश्रम का आधार भी ब्रह्मचर्य होता है। सन्तान की वासना के साथ सन्तान की सेवा की बात आती है और उसके साथ सन्तान की पूजा सबका धर्म बनता है। फिर अतिथि-सेवा भी आती है। ये सब साधन ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक हैं। गृहस्थाश्रम भी थोड़े ही वर्षों के लिए होता है। इस तरह पहले ब्रह्मचर्याश्रम, बाद में थोड़े समय के लिए गृहस्थाश्रम और उसमें भी ब्रह्मचर्य के लिए अवकाश और उसके बाद वानप्रस्थाश्रम, ऐसी योजना बनायी गयी थी। परन्तु दुःख की बात है कि आज वह योजना नहीं रही है।

हिन्दुस्तान के धर्म की यह जो खास बात थी, वह अब नहीं रही है। अब तो सिर्फ थोड़ा भक्ति-मार्ग रहा है और वह सब धर्मों में हो रहा है। वह अच्छा ही है। उसीके आधार पर हम अब आगे बढ़ेंगे। परंन्तु भक्ति-मार्ग तो एक 'न्यूनतम कार्य-क्रम है। आध्यात्मिक जीवन का वह आधार है। उस बुनियाद पर बाकी सारा मकान खड़ा करना है। आज तो हिन्दूधर्म का मकान गिर गया है। हिन्दूधर्म की फिर से स्थापना करनी है। उसमें ब्रह्मचर्य एक बहुत बड़ा विचार है।

सलाम का आदर्श

इसलाम ने यह विचार रखा है कि गृहस्थ-धर्म ही पूर्ण आदर्श है। बाकी के आदर्श, जैसे ब्रह्मचारी का, गौण आदर्श हैं। वैसे भगवान् ईसा तो आदरणीय थे, ब्रह्मचारी थे। परन्तु उनका जीवन पूर्ण जीवन नहीं माना जायगा। मुहम्मद का आदर्श पूर्ण है। वे गृहस्थ थे। वैसे ब्रह्मचारी को 'एक्सपर्ट' (विशेषज्ञ) जैसा माना जायगा। विशेषज्ञ एकांगी होते हैं, परन्तु समाज को उनकी भी जरूरत होती है। इसी तरह जिन्होंने शुरू से आखीर तक ब्रह्मचारी का जीवन बिताया, उनका आदर्श पूर्ण नहीं है। पुरुषोत्तम, पूर्ण आदर्श तो गृहस्थ ही है। स्त्री और पुरुष, दोनों के लिए गृहस्थ का ही आदर्श है। इस दृष्टि से मुसलमानों का चिन्तन चलता है।

वैदिक आदर्श

वैदिक धर्म में दूसरी ही बात है। यहाँ पर ब्रह्मचारी को ही आदर्श माना गया है। बीच में जो गृहस्थाश्रम आता है, वह तो वासना के नियंत्रण के लिए है। इस तरह नियंत्रण की एक सामाजिक योजना बनायी गयी थी, जिससे मनुष्य ऊपर की सीढ़ी जल्द-से-जल्द चढ़ सके। परन्तु उसमें सर्वोत्तम आदर्श तो ब्रह्मचारी का ही था।

स्त्री-पुरुष में भेद

बीच के जमाने में स्त्री-पुरुषों में भेद माना गया, जिससे हिन्दूधर्म की दुर्दशा हो गयी। पुरुष को तो ब्रह्मचर्य का अधिकार रहा, लेकिन स्त्री को इसका अधिकार नहीं रहा। इसलिए स्त्री को गृहस्थाश्रमी बनना ही चाहिए, ऐसा माना गया। अगर वह गृहस्थाश्रमी नहीं बनती, तो अधर्म होता है। अधर्म का यह आरोप सहन करते हुए भी कुछ ऐसी स्त्रियाँ निकलीं, जो समाज के खिलाफ खड़ी होकर ब्रह्मचारिणी रहीं। जैसे, मीराबाई और महाराष्ट्र की मुक्ताबाई। लेकिन समाज ने तो उन

पर अधर्म का आरोप किया ही। उन्होंने अपने लिए ब्रह्मचर्य का आग्रह रखा, लेकिन समाज ने उनके ब्रह्मचर्य का हक नहीं माना।

दोष का संशोधन जरूरी

इस तरह बीच के जमाने में यह एक बहुत बड़ा दोष पैदा हुआ। अब इस जमाने में उसका संशोधन करना जरूरी है। हक देने पर भी उसका पालन करनेवाले कम ही होंगे। परन्तु कम हों या ज्यादा, स्त्री के लिए ब्रह्मचर्य का अधिकार नहीं है, यह बात ही गलत है। उससे आध्यात्मिक 'डिसएबिलिटी' (अपात्रता) पैदा होती है। अगर कोई व्यावहारिक अपात्रता होती, तो उसमें सुधार करना सम्भव था। लेकिन आध्यात्मिक ही अपात्रता हो, तो वह बड़े दुःख की बात है। हिन्दुस्तान में बीच के जमाने में जो तेजोहानि हुई, उसका यह भी एक कारण है कि स्त्रियों को ब्रह्मचर्य का अधिकार नहीं रहा।

दीक्षा में खतरा !

बुद्ध भगवान् पहले अपने उपदेशकों में स्त्रियों को नहीं लेते थे, स्त्रियों को दीक्षा नहीं देते थे। एक दिन उनके महान् शिष्य आनन्द एक स्त्री को ले आये और उन्होंने भगवान् से कहा कि यह स्त्री उपदेश देने योग्य है। इसे दीक्षा दीजिये। उस समय बुद्ध भगवान् ने जो उद्गार प्रकट किया, उसमें उन्होंने कहा कि "आनन्द के कहने से मैं आज स्त्री को दीक्षा दे रहा हूँ, लेकिन मैं आज एक खतरा उठा रहा हूँ।*........" बाद में, बुद्धधर्म की अवनति के जमाने में

---

* "आनन्द ! यदि तथागत प्रवेदित धर्म-विनय में स्त्रियाँ प्रव्रज्या न पातीं, तो (यह) ब्रह्मचर्य चिर-स्थायी होता, सद्धर्म सहस्र वर्ष तक ठहरता। लेकिन चूँकि आनन्द ! स्त्रियाँ प्रव्रजित हुईं; अब ब्रह्मचर्य चिर-स्थायी न होगा, सद्धर्म पाँच ही सौ वर्ष ठहरेगा। आनन्द ! जैसे बहुत स्त्रीवाले और थोड़े पुरुषोंवाले कुल, चोरों द्वारा, भँडियाहों (=कुम्भ-चोरों) द्वारा आसानी से ध्वंसनीय होते

हिन्दुस्तान में कुछ गलत काम हुए। दुनिया में भी ऐसे काम हुए हैं। उनकी प्रतिक्रिया यह हुई कि हिन्दूधर्म ने स्त्रियों का ब्रह्मचर्य का हक ही छीन लिया। लेकिन उपनिषदों में उलटी बात है। उनमें तो स्त्री-पुरुषों में कोई भेद ही नहीं किया गया है।

अक्सर यह माना जाता है कि स्त्रियों में काम-वासना ज्यादा होती है। लेकिन यह खयाल गलत है। स्त्री को प्रसूति के परिणाम भोगने पड़ते हैं और बच्चों के लिए बड़ी तकलीफ उठानी पड़ती है। तो, जिसमें इतनी तकलीफ उठानी पड़ती है, उसके लिए उसके मन में अधिक वासना हो, यह सम्भव नहीं दीखता। एक दिन मैं मन्दिर देखने गया था। वहाँ पर देवकी माता का चित्र था। उसे प्रसूति की वेदनाएँ हो रही हैं, ऐसा उस चित्र में दिखाया गया था। जब उसकी तकलीफें मैंने देखीं, तो मुझे लगा कि जब इतनी तकलीफ हो रही है, तो भगवान् जन्म ही नहीं लेते। मुझे कई दफा लगा कि मेरा शरीर तो कमजोर है, अगर मैं स्त्री होता और ऐसी हालत में मुझे बच्चे पैदा होते, तो मैं कैसे टिक सकता? लेकिन माना जाता है कि स्त्री को सन्तान की इच्छा रहती है। स्त्री सृष्टि में मातृप्रेरणा है। इसलिए यह हो सकता है कि स्त्री को प्रथम सन्तान की इच्छा हो। बिलकुल ही सन्तान-विरहित रहने का

हैं, इसी प्रकार आनन्द! जिस धर्म-विनय में स्त्रियाँ प्रव्रज्या पाती हैं, वह ब्रह्मचर्य चिर-स्थायी नहीं होता। जैसे आनन्द! सम्पन्न लहलहाते धान के खेत में सेतट्ठिका (=सफेदा) नामक रोगजाति पलती है, जिससे वह शालि-क्षेत्र चिर-स्थायी नहीं होता; ऐसे ही आनन्द! जिस धर्म-विनय में स्त्रियाँ प्रव्रज्या पाती हैं, वह ब्रह्मचर्य चिर-स्थायी नहीं होता। जैसे आनन्द! सम्पन्न ऊख के खेत में माजेंट्ठिका (=लाल रोग) नामक रोग-जाति पलती है, जिससे वह ऊख का खेत चिर-स्थायी नहीं होता; ऐसे ही आनन्द! जिस धर्म-विनय में स्त्रियाँ प्रव्रज्या पाती हैं, वह ब्रह्मचर्य चिर-स्थायी नहीं होता।"

—विनय पिटक, चुल्लवग्ग, भिक्षुणी-स्कंधक १, पृष्ठ ५२१।

आदर्श शायद पुरुष की अपेक्षा स्त्री को अधिक कठिन मालूम होता हो। परन्तु एक सन्तान हो जाने के बाद स्त्री को वासना नहीं रहती होगी, क्योंकि उसे सन्तान होते समय काफी तकलीफ उठानी पड़ती है। यह मैंने अपना विश्लेषण रख दिया। मैं नहीं जानता कि यह कहाँ तक सही है।

कहने का तात्पर्य यही है कि स्त्री के बारे में यह गलतफहमी फैलायी गयी है कि उसे काम-वासना अधिक होती है। इसी गलतफहमी का परिणाम है कि स्त्री पर अंकुश रखा जाता है। इसका परिणाम हिन्दुस्तान में यह हुआ कि कहीं अत्याचार हो जाता है, तो स्त्रियाँ भी पुरुषों का बचाव करती हैं। जरा गहराई से देखो, तो मालूम हो जायगा कि इसका मतलब है कि स्त्री के मन में पुरुष के लिए अनादर है। पुरुष कोई गलत काम करता है, तो बहुत बड़ी बात है, ऐसा उसे नहीं लगता। अगर कोई स्त्री बीड़ी पीती है, तो उसको गलत माना जाता है; लेकिन पुरुष पीता है, तो गलत नहीं लगता! मुझे भी स्त्रियों को बीड़ी-सिगरेट पीते देखकर बड़ा भयानक मालूम होता है। पर ऐसा क्यों होना चाहिए? स्त्री-पुरुष समान ही तो हैं।

स्त्री की अपात्रता मिटे

फिर भी हिन्दुस्तान में स्त्री के लिए आध्यात्मिक उच्चता की भावना है और स्त्री के मन में भी वही भावना है। इसलिए कोई व्यभिचारी पुरुष निकले, तो स्त्रियाँ ही उसे मुआफ कर देती हैं। वे कहती हैं, अरे, पुरुष ही है यह! इसको स्त्री का 'सुपीरिऑरिटी कॉम्प्लेक्स' (अहम्मन्यता) कहा जा सकता है। लेकिन स्त्रियों के लिए जो गलत मान्यता हुई है, उसे हटाना चाहिए। उसे हटाये बिना समाज का उद्धार न होगा। मैंने तो कई दफा कहा है कि जब तक शंकराचार्य जैसी कोई स्त्री नहीं निकलेगी, जो कि पुराने शास्त्रों की गलतियाँ दिखायेगी, शास्त्र फाड़ डालेगी, तब तक स्त्रियों का उद्धार नहीं होगा। लेकिन शास्त्रों

की गलतियाँ बताने का काम तो वही कर सकती है, जो अत्यन्त तेजस्वी, वैराग्यशील और ज्ञान-निष्ठ हो। तब अपात्रता नष्ट होगी और तभी स्त्री को ब्रह्मचर्य-पालन का वास्तविक हक प्राप्त होगा। पर, आज तो ब्रह्मचारिणी स्त्री की समाज में निन्दा ही की जाती है।

अमृत के नाम पर विष

मैंने देखा है कि विषय-वासना को प्रेरणा देनेवाला जो शृंगारिक साहित्य है, उससे मनुष्य जितना गिर सकता है, उससे भी अधिक गिर सकता है, उस साहित्य को पढ़ने से, जो कि वासना से बचने के लिए लिखा गया है। इतना गन्दा साहित्य होता है वह!

मां के सामने सुरक्षितता

होना तो यह चाहिए कि ब्रह्मचारी के सामने यदि कोई स्त्री आती है, तो वह अपने को ज्यादा पवित्र और सुरक्षित महसूस करे। मेरा तो ऐसा अनुभव है कि सामने कोई स्त्री आये, तो मुझे लगता है कि मेरी माता ही आ गयी। इसलिए मुझे अधिक सुरक्षा मालूम होती है; क्योंकि माता पास खड़ी हो, तो हम गलत काम नहीं करते। उसी तरह ब्रह्मचारी को स्त्री के सान्निध्य से अधिक सुरक्षितता महसूस होनी चाहिए। अतः यह जो खयाल है कि ब्रह्मचारी को स्त्री के सम्पर्क से बचना चाहिए, वह गलत खयाल है। उससे नाहक कृत्रिम मर्यादाएँ डाली जाती हैं।

मुसलमानों का परदा लीजिये, उसमें भी यही बात है। हिन्दुओं में स्त्री की अपात्रता मानी गयी है। यह सब गलत है। लेकिन, जैनों में स्त्री और पुरुष, दोनों को समान माना गया है। ईसाइयों में जो कैथोलिक हैं, वे स्त्री-पुरुषों को समान मानते हैं; लेकिन 'प्रोटेस्टेंटों' का खयाल करीब-करीब मुसलमानों जैसा ही है। वे मानते हैं कि ब्रह्मचर्य अशक्य वस्तु है और गृहस्थाश्रम ही आदर्श है। लेकिन

कैथोलिकों में भाई और वहन, दोनों ब्रह्मचारी होते हैं। इसलिए साधना में एक सामाजिक विषय आता है कि स्त्री की तरफ किस दृष्टि से देखना चाहिए।

ब्रह्मचारी की दृष्टि

ब्रह्मचारी की दृष्टि यह नहीं होनी चाहिए कि वह स्त्री को देख ही नहीं सकता। मुझे रामायण का एक किस्सा याद आता है। प्रभु रामचन्द्र ने लक्ष्मण को सीता के गहने दिखाये और पूछा कि क्या तुम गहने पहचानते हो ? जब रावण सीता को हर ले गया, तब लंका जाते समय सीता ने रास्ते में अपने गहने एक-एक करके फेंक दिये, जिससे रामचन्द्र को पता चले कि उसे किस रास्ते से ले जाया गया है। लक्ष्मण ने जवाब दिया :

'नाहं जानामि केयूरे, नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि, नित्यं पादाभिवन्दनात् ।।'

'केयूर और कुण्डल, जो ऊपर के हिस्से के गहने हैं, वे तो मैं नहीं पहचानता; लेकिन नूपुरों को पहचानता हूँ, क्योंकि प्रतिदिन सीताजी की पद-वन्दना करते समय मैंने उन नूपुरों को देखा था।'

लक्ष्मण : चरणाकृति का पुजारी

एक दफा साबरमती-आश्रम में इस वाक्य पर चर्चा चली। बापू तो क्रान्तिकारी ही थे। उन्होंने कहा कि 'लक्ष्मण का यह वाक्य मुझे अच्छा नहीं लगता है।' फिर उन्होंने मुझसे पूछा कि 'तेरी इस पर क्या राय है ? तू तो शास्त्र बहुत अच्छी तरह जानता है।' मैंने कहा कि "आपने जिस दृष्टि से वह वाक्य नापसन्द किया, उस दृष्टि से तो वह नापसन्द करने ही लायक है, क्योंकि लक्ष्मण ब्रह्मचारी था और उसने सीता का मुख ही नहीं देखा था। अगर ब्रह्मचारी ऐसी मर्यादा से रहे कि वह स्त्री का मुख नहीं देखे, तो वह गलत बात है।

परन्तु मैंने इस वाक्य का दूसरा अर्थ देखा है। इसमें तो लक्ष्मण ने सीता के चेहरे की तरफ नहीं देखा, इतना ही नहीं है। इसमें तो रामजी उससे पूछ रहे हैं। इसका मतलब है कि रामजी भी उन गहनों को नहीं पहचानते थे। मतलब, पति ही पत्नी के गहने नहीं पहचान रहा है!

"इसके माने है कि क्या सीता और क्या राम, दोनों अनासक्त थे। दोनों एक-दूसरे की आकृति नहीं देखते थे, बल्कि एक-दूसरे को ब्रह्म के रूप में ही देखते थे। लेकिन लक्ष्मण तो सीता के चरणों की पूजा करता था, पादाभिवन्दन करता था। इसलिए वह उपासना के तौर पर चरणाकृति को देखता था, तो उसमें पैर के गहने भी आ जाते थे। वह गहनों के साथ की चरणाकृति को मूर्ति समझकर उपासना करता था।........" जब मैंने यह अर्थ बताया, तो बापू ने कहा कि 'तू तो शास्त्र-वचनों का बहुत अच्छा बचाव करना जानता है।' वे बोले कि 'यही सही है। और होना भी यह चाहिए कि जहाँ तक हो सके, शास्त्र-वचनों का अच्छा अर्थ ही करना चाहिए।' इसलिए जहाँ ब्रह्मचारी के मन में यह भावना आयी कि सामने जो स्त्री आयी है, उसे मैं नहीं देख सकता, तो वह उसकी कमी मानी जायगी।

सहशिक्षा का प्रश्न

लोग हमसे पूछते हैं कि लड़के और लड़कियों की तालीम एकत्र होनी चाहिए या नहीं? तो हम जवाब देते हैं कि यह सवाल तो परमेश्वर ने ही हल कर दिया है। हर घर में लड़के और लड़कियाँ, दोनों होती हैं। अगर परमेश्वर चाहता कि दोनों को अलग रखा जाय, तो वह कुछ घरों में लड़के ही लड़के पैदा करता और कुछ घरों में सिर्फ लड़कियाँ ही पैदा करता। इसलिए एकत्र शिक्षा ही होनी चाहिए। लेकिन आज का समाज बिगड़ा हुआ है, इसमें गलत साहित्य, सिनेमा, यह सब चलता है। इसलिए ऐसे सवाल पैदा होते हैं।

वास्तव में तो जहाँ स्त्री और पुरुष एकत्र रहते हैं, वहीं पर अधिक-से-अधिक पवित्रता होती है, ऐसा अनुभव है। मुझे कभी ऐसा नहीं लगा कि स्त्री से अपना बचाव करना चाहिए। मैंने जिस तरह से पुरुषों के साथ व्यवहार किया, उसी तरह से स्त्रियों के साथ व्यवहार किया।

अतिपरिचय न हो

मैं तो मानता हूँ कि पुरुष-पुरुष के बीच भी अधिक शारीरिक परिचय होना गलत बात है। परिचय तो मानसिक होना चाहिए। शारीरिक परिचय भी केवल सेवा के वास्ते जितना आवश्यक है, उतना ही होना चाहिए। हम देखते हैं कि पुरुष नाहक दूसरे पुरुष मित्र के गले में हाथ डालते हैं। इस तरह जो चलता है, वह हमें पसन्द नहीं आता।

यह वात्सल्य नहीं, भोग है

एक दफा किसीने मेरे एक मित्र की कहानी सुनायी। मेरे मित्र ने एक सुन्दर गाय का बछड़ा देखा। उससे रहा नहीं गया और उसने प्रेम से उस बछड़े को उठा लिया। उसने तो मेरे मित्र के वात्सल्य का वर्णन करने के लिए मुझे यह कहानी सुनायी। लेकिन हमने कहा कि इसमें क्या वात्सल्य है ? सुन्दर बछड़ा देखा और उठा लिया ! वह गन्दा होता, तभी तो वात्सल्य की जरूरत थी। क्योंकि प्रेम से उसे साफ करने के लिए वात्सल्य आवश्यक था। अगर वह किसी गन्दे बछड़े को देखते ही उठा ले और प्रेम से साफ करे, तब तो हम उस प्रेम को समझेंगे। लेकिन, अगर आप किसी सुन्दर वस्तु को देखते ही फौरन् उठा लेते हैं, तो उसको आप भोग रहे हैं, उसमें सेवा नहीं है। मैं मानता हूँ कि अगर कोई बच्चा भयभीत हुआ हो, तो उसे उठा लेना चाहिए, उसे ढाढ़स दिलाना चाहिए। लेकिन उस गाय

के सुन्दर बछड़े को तो नाहक उठा लिया। उसमें क्या भाव था ? हाँ, हम कबूल करते हैं कि हमारे उस मित्र के भी मन में वात्सल्य था, प्रेम था, परन्तु उस प्रेम का दर्जा नीचा है। इसलिए सेवा के वास्ते ही शरीर के साथ सम्बन्ध होना चाहिए। शरीर-परिचय की जो एक सामान्य मर्यादा है, वह न सिर्फ स्त्री और पुरुष के बीच होनी चाहिए, बल्कि पुरुष-पुरुष के बीच और स्त्री-स्त्री के बीच भी वही मर्यादा होनी चाहिए। यह दर्शन ही गलत है कि स्त्री और पुरुष में भेद किया जाय।

लिंग-भेद अनावश्यक

हमने तो देखा है कि जिन लोगों में स्त्री-पुरुषों के बीच अधिक मुक्तता है, वहीं पर अधिक पवित्रता है। मलाबार में तो भाषा में भी लिंग-भेद नहीं है। हिन्दी में 'मैं जाता हूँ', 'मैं जाती हूँ', इस तरह का भेद हरएक वाक्य में आता है। बंगला में भी लिंग-भेद नहीं है। यह बहुत अच्छी बात है। लिंग-भेद न होने के कारण बंगला किताबों का हिन्दी में तरजुमा करना भी कठिन हो जाता है। क्योंकि, यहाँ पर (बंगला में) स्त्री-पुरुषों के प्रेम का जो पावित्र्य होता है, अनुवाद में वह नहीं आ सकता। वास्तव में तो उसका तरजुमा ही नहीं हो सकता। क्योंकि, यहाँ पर जो 'इम्पर्सनल' (अशरीरी) प्रेम है, उसे अनुवाद में नहीं लाया जा सकता। लेकिन हाँ, बंगला में संस्कृत का अनुकरण करके विशेषणों में लिंग-भेद लाया गया है। यह गलत काम किया गया है। क्रिया-पद में लिंग-भेद नहीं है, यह अच्छी बात है। वास्तव में इन भेदों की कोई जरूरत नहीं है। संस्कृत के क्रिया-पदों में भी यह भेद नहीं है और 'इंग्लिश' में जो 'हिज' (वह—पुरुष) और 'हर' (वह—स्त्री) चलता है, वह भी बंगला में नहीं है। यह अच्छी बात है। इससे वातावरण पवित्र होता है।

मर्यादा स्त्री-पुरुष की नहीं, सबकी

स्त्री-पुरुषों का भेद तो हम आकृतिमात्र से ही पहचानते हैं। अन्दर की आत्मा तो एक ही है। मनुष्य ने माना है कि दोनों के बीच

कुछ मर्यादाएँ होनी चाहिए। लेकिन यह कोई सर्वोत्तम वस्तु नहीं है। होना तो यह चाहिए कि दोनों खुले दिल से एक-दूसरे के सामने आयें। वैसे शरीर-सम्पर्क की एक सर्व-सामान्य मर्यादा हो। पुरुष-पुरुष के बीच भी ज्यादा सम्पर्क न हो। योगशास्त्र में इसे 'शौच' कहा गया है। योगशास्त्र में दो बातें बतायी हैं: (१) यम--अहिंसा, सत्य आदि और (२) शौच--स्वच्छता की भावना। इसका मतलब है कि अपने शरीर के लिए घृणा पैदा हो। "स्वांग-जुगुप्सा!"—ऐसे गन्दे शरीर को लेकर हम दूसरों के नजदीक कैसे जायँ, यह विचार होता है। ऐसे अमंगल शरीर से हम दूसरों के सम्पर्क में ज्यादा नहीं आयँगे। इस तरह अपने शरीर के लिए जो अमंगल भाव होता है, वह एक रक्षण होता है, जिससे कि नाहक सम्पर्क नहीं होता। इसलिए हम तो मानते हैं कि स्त्री-पुरुषों के बीच की मर्यादा मानने की कोई जरूरत नहीं है। जो मर्यादा माननी है, वह सबके लिए समान है।

स्त्री को 'देवी' मानना गलत

अब मैं एक तीसरी बात कहूँगा, जिसका समाजशास्त्र के साथ सम्बन्ध है। आजकल समाज में सुधरे हुए लोगों में अधिकाधिक कृत्रिमता आ गयी है। इसलिए स्त्री के लिए ज्यादा आदर दिखाना, जिसे "दाक्षिण्य-भाव" कहते हैं, चलता है। स्त्री को 'देवी' कहा जाता है। इस तरह, एक बाजू से तो स्त्री के लिए घृणा और तिरस्कार होता है, अपात्रता होती है और दूसरी तरफ से स्त्री के लिए अधिक भावना होती है। पुरुष अपने को स्त्री का सेवक मानता है। बीच के जमाने में यूरोप के सरदारों में जो 'शिवल्री' (वीरता) की बात चली, वह इसीमें से निकली है और इसीके परिणामस्वरूप आज के समाज के 'एटीकेट' (शिष्टाचार) के नियम बने हुए हैं। लेकिन हम मानते हैं कि इससे विषय-वासना बढ़ती ही है। जैसे स्त्री के लिए कोई अपात्रता समझना गलत है, उसी तरह स्त्री के लिए अधिक भाव या

ऊँची भावना रखना भी गलत है। होना तो यह चाहिए कि आत्मा में तो स्त्री और पुरुष का भेद नहीं है, यह भेद तो शरीर का है, इसका भान हो जाय। यह भान होने पर वासना से निवृत्त होना आसान हो जायगा।

सेवकों का कर्तव्य

सेवकों के लिए पाँच यमों की बात बतायी गयी है। जैसे—अहिंसा, अपरिग्रह आदि। उन व्रतों के पालन के लिए हम समाज में किस तरह का जीवन बितायें, इस पर सोचना होगा। मैंने माना है कि जिनको इन व्रतों की शक्ति का भान है, वे ब्रह्मचर्य का यही खयाल करेंगे कि मनुष्य में जो वीर्य-शक्ति होती है, वह उत्पादन के लिए है। इसलिए मनुष्य की वासना जितनी ऊँची चढ़ेगी, उतना ही वह नीचे गिरेगा। अक्सर कहा जाता है कि जो प्रतिभा का, निर्माण का काम करते हैं, उनमें स्थूल-निर्माण की, सन्तान-निर्माण की इच्छा कम होती है। इसलिए निर्माण-कार्य एक पवित्र कार्य है। निर्माण ऊँची चीजों का करना चाहिए। जो ऐसा करेगा, वह नीची वस्तु को छोड़ देगा। बुद्धि की प्रतिभा ज्योति के समान होती है। लेकिन, अन्दर का जो तेल है, जिसके आधार से ज्योति जलती है, वह है—ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचर्य से बुद्धि की प्रतिभा अधिक तेजस्वी होगी। इसलिए जिन्हें बौद्धिक काम करना है, ऊँचा चिन्तन करना है, उनकी वीर्य-शक्ति का उपयोग सामान्य सन्तान-निर्माण के काम में करना उचित नहीं है।

उत्तम निर्माण-कार्य करें

बुद्ध, शंकराचार्य, ईसा, ये सब ब्रह्मचारी ही थे। उन्हें अपनी बुद्धि के लिए ऐसा काम मिला था, जो बहुत ऊँचा था। उन्हें ऊँचे दर्जे के निर्माण-कार्य से समाधान होता था। इसलिए निर्माण की जो सर्वसाधारण प्रक्रिया मानी जाती है, उससे वे सहज ही बच गये। अतः सेवकों के सामने कोई उत्तम निर्माण का कार्य होना चाहिए। जिन्हें

समाज-रचना बदलनी है, क्रान्ति का काम करना है, उन्हें तो आसानी से ब्रह्मचर्य सधना चाहिए। हमारे सामने एक ऐसा ही क्रान्ति का काम है। हमें नया मानव बनाना है। सारा समाज बदलना है। उत्तम साहित्य का निर्माण करना है। व्यक्ति और समाज में भिन्न-भिन्न गुणों का प्रकाश करना है। इतना महान् कार्य जिनके सामने पड़ा है, उनको तो स्थूल निर्माण-कार्य में रस नहीं मालूम होगा।

आज मैंने आपके सामने सुव्यवस्थित रूप से विचार नहीं रखा है, जैसे जंगल में संचार करते हैं, उसी तरह मैंने किया है।

मेटिया,
मेदिनीपुर (बंगाल)
२०-१-'५५

गांधीजी के कारण हिन्दुस्तान में एक रिवाज पड़ गया है कि हरएक आश्रम और संस्था में सुबह-शाम प्रार्थना चलती है। परन्तु यह केवल एक सदाचार मात्र है। उस पर हमारी उतनी श्रद्धा नहीं होती, जितनी होनी चाहिए। परिणाम यह है कि प्रार्थना तो हम कर डालते हैं, परन्तु जीवन पर उसका कोई असर नहीं होता। परमेश्वर की प्रार्थना का, भक्ति का रहस्य तो तब मालूम होता है, जब मनुष्य अहंकार छोड़कर, केवल हरिमय होने की चेष्टा करता है।

भक्ति और भूदान

भक्ति के बारे में देखा जाय, तो भक्ति के साधन माने गये हैं—भजन, पूजन, प्रसाद-सेवन आदि। इन सबसे भक्ति का जितना सम्बन्ध माना जायगा, उससे भी ज्यादा सम्बन्ध भूदान-यज्ञ का भक्ति से माना जायगा; क्योंकि भूदान-यज्ञ में हम साक्षात् नारायण की सेवा करते हैं, काल्पनिक सेवा या मूर्ति की पूजा नहीं करते। जनता में हम नारायण को देखते हैं और साक्षात् नारायण की ही सेवा करते हैं। इसलिए जो भूदान के कार्यकर्ता हैं, वे यह दावा कर सकते हैं कि हमने भक्ति की राह ली है। वैसे, वैष्णव भी यह दावा कर सकते हैं। परन्तु, हम आज यह दावा नहीं करते; क्योंकि उसका गहरा दर्शन हमें नहीं हुआ है।

लेकिन मैं कहना चाहता हूँ कि जैसे दूसरे आन्दोलन होते हैं, वैसा यह आंदोलन नहीं है। हमारे जो मुख्य-मुख्य कार्यकर्ता हैं, उनकी आन्दोलनकारी मनोवृत्ति नहीं होनी चाहिए। वैसे तो इसमें हजारों, लाखों कार्यकर्ता आयेंगे। मैं उनकी बात नहीं कह रहा हूँ।

लेकिन, जो कार्यकर्ता इसमें पूरा योग देंगे, उन्हीं के लिए कह रहा हूँ। गंगा की जो मूलधारा होती है, वह स्वच्छ, शुद्ध, निर्मल होनी चाहिए। फिर बाद में दूसरे नाले आयें, तो कोई हर्ज नहीं। जो पूरा समय और योग देनेवाले कार्यकर्ता हैं, वे इस भूदान-गंगा की मूलधारा हैं। इसलिए उनको यह दर्शन होना चाहिए कि इस काम में हम साक्षात् नारायण की सेवा करते हैं। इससे उनका सारा जीवन भक्तिमय होगा।

भक्ति से दृष्टि-परिवर्तन

हम जब यात्रा करते हैं, तो कुछ लोग दान देते हैं, कुछ नहीं देते। लेकिन जो दान देंगे, उन सबकी तरफ देखने की हमारी दृष्टि भक्ति के कारण बदल जायगी। उस हालत में इस आंदोलन की शक्ति प्रकट होगी। दूसरे आंदोलनों में तो यह होता है कि आंदोलन कभी ऊपर उठता है, तो कभी नीचे गिरता है। आंदोलन का मतलब ही है—'दोलायमान।' इसलिए मैंने कहा है कि यह आंदोलन नहीं है, 'आरोहण' है। इसमें तो सतत ऊपर ही चढ़ना है। काम करते समय हमें कभी जमीन मिलेगी, कभी नहीं मिलेगी। कभी लोग शंका उठायेंगे, कभी गुस्सा होंगे। कभी अहंकार दीखेगा। ये सारे दर्शन होते हैं। परन्तु हमें ऐसी आन्तरिक अनुभूति होनी चाहिए कि ये सब दर्शन ऊपर-ऊपर के हैं। जैसे, सुवर्ण के कई प्रकार के अलंकार बनाये जाते हैं, तो उनका आकार कुछ भी हो, सुवर्ण तो सुवर्ण ही रहता है। इस बात को हम पहचानते हैं। उसी तरह हमारे सामने जो कोई आये, कोई भला हो, कोई बुरा मालूम हो, तो भी ये सब भले-बुरे के बाहरी आकार ही हैं। असल वस्तु तो सुवर्ण ही है। कोई अलंकार टेढ़ा हो, तो भी हम उसे फेंक नहीं देते। यह जो अन्तर में अनुभव होगा, वह सबके लिए होना चाहिए। इसके लिए भगवान् की प्रार्थना की जरूरत है। उसमें हम ईश्वर के सामने खड़े हो जाते हैं और दिल का दरवाजा खोल देते हैं, जिससे कि वह

अन्दर आ सकता है। फिर हमारी संकुचित मनोवृत्ति खतम हो जाती है और हृदय व्यापक बनता है। इसलिए यह तो बाहर की व्यापकता को अन्दर लेने की प्रक्रिया है। जैसे, शरीर के लिए स्नान और स्वच्छ हवा आवश्यक है, उसी तरह हमें आध्यात्मिक हवा जरूरी है। इसलिए प्रार्थना का महत्त्व है।

प्राचीन सन्तों का और हमारा दावा

इस दृष्टि से हमारी प्रार्थना और भजन को लीजिये। पहले के वष्णवों में जो प्रेरणा थी, उसमें कुछ कमियाँ हैं। परन्तु वह एक उत्तम वस्तु है और वह हममें ज्यादा होनी चाहिए। मैंने चांडिल सर्वोदय-सम्मेलन में कहा था कि पहले के सन्तों का यह दावा नहीं था कि हम दुनिया का परिवर्तन करने जा रहे हैं। उनका दावा यही था कि हम ईश्वर के पास जाना चाहते हैं, उसकी कृपा हासिल करना चाहते हैं। लेकिन हम लोग तो पहले के सन्तों से ज्यादा सोचते हैं। हम कहते हैं कि यह ईश्वर का प्रकाश न सिर्फ हमें मिले, बल्कि सारी दुनिया को मिले, जिससे कि मनुष्य में परिवर्तन हो, समाज-व्यवस्था में परिवर्तन हो, एक क्रान्ति हो। हिंसा से क्रान्ति करना तो बहुत आसान बात है। उसके लिए सिर्फ बाहर का ही रूप बदलना पड़ता है। लेकिन अहिंसा से क्रान्ति करनी हो, तो अन्दर से बदलना पड़ता है। इसमें तो मानव के हृदय में प्रवेश करके बदल करने की बात है। तो, जो लोग इतनी बड़ी उम्मीद रखते हैं, उनके लिए भक्ति-मार्ग आवश्यक ही है।

हम एक कदम आगे

जो पुराने सन्त थे, वे समझते थे कि व्यक्ति की शुद्धि हो और उसके लिए वे सेवा भी करते थे। वहीं तक उनका काम सीमित था। परन्तु दुनिया को कोई रूप देना है, यह अहंकार कहिये या आदर्श कहिये या 'मिशन' कहिये, उनमें नहीं था। इसलिए हमें एक कदम आगे जाना है। यह जो हमारा दावा है, वह बड़ा साहस का है कि

हमें बुद्ध भगवान् और सन्त, ये सब जितने आगे गये थे, उससे भी एक कदम आगे बढ़ना है। तो, जब हमारा और एक कदम आगे बढ़ने का दावा है, तो हमें भी उसके लायक बनना चाहिए।

मूर्ति के और नर के नारायण का फर्क

अरविन्द ने जो विचार रखा, वह पहले से एक कदम आगे बढ़ा हुआ है। वैसे ही हम आज जो बात कर रहे हैं, वह भी एक कदम आगे की है। मूर्ति को भगवान् समझकर उसकी पूजा करना कठिन बात नहीं है। क्योंकि, मूर्ति को न राग-द्वेष होते हैं, न क्रोध। इसलिए वह भगवान् का प्रतीक बनने के सर्वथा उपयुक्त है। लेकिन, जब हम मनुष्य को ही नारायण-स्वरूप मानते हैं, तब तो बात कठिन हो जाती है। क्योंकि, यह नारायण कभी क्रोध भी करता है, कभी जमीन कम देता है, कभी ज्यादा देता है। हमारी कल्पना के अनुसार वह नहीं बरतता। ऐसी हालत में उसे नारायण समझना कुछ कठिन हो जाता है।

मूर्ति को तो हम चाहे जो रूप दे सकते हैं, लेकिन इस नारायण का क्या रूप होगा, यह हमारे हाथ में नहीं, उसीके हाथ में है। वह क्रोध करेगा, तो समझें कि नारायण का क्रोधमय रूप प्रकट हुआ है। वह मत्सर करेगा, तो समझें कि नारायण मत्सर के रूप में दीख रहा है। वह कंजूस बनेगा, तो समझें कि नारायण का कंजूस रूप प्रकट हो रहा है। इस तरह उस-उस रूप में नारायण ही दीख रहा है, ऐसी हमारी वृत्ति हो जाय, तभी हम विश्व का परिवर्तन करेंगे। नहीं तो, अगर क्रोधी मनुष्य के दर्शन से उसके क्रोध ने हमारे हृदय में प्रवेश किया, तो दुनिया का परिवर्तन करने के बजाय दुनिया ही हमारा परिवर्तन करेगी। इसलिए जो दुनिया का परिवर्तन करना चाहते हैं, वे इतने मजबूत होने चाहिए कि उनके अन्तर का असर दुनिया पर हो, दुनिया का असर उन पर नहीं होना चाहिए। इसलिए हम लोगों में अधिक गहरी निष्ठा चाहिए।

हृदय-परिवर्तन का आन्दोलन

हम लोगों में यह एक खामी है। हम कोई काम उठाते हैं, तो बाह्य काम में मतभेद हो जाता है। प्रथम स्थान किसे मिले, गौण स्थान किसे मिले, इस पर मतभेद चलता है। इसका मतलब है कि सामान्य स्तर पर ही झगड़ा होता है। अगर भूदान-यज्ञ कोई फंड इकट्ठा करने का काम होता या माँगने का काम होता, तो उसमें यह सब चल सकता था। हमने कहीं-कहीं देखा है कि कुछ लोग धमकाकर या दबाव डालकर भूदान हासिल करते हैं। वोट हासिल करने में जो हथकण्डे इस्तेमाल किये जाते हैं, वे हथकण्डे भूदान प्राप्त करने में इस्तेमाल किये जायँ, तो हृदय-परिवर्तन, फिर जीवन-परिवर्तन और फिर समाज-परिवर्तन की हमारी जो बात है, वह मिट जाती है। हमारा यह कोई जमीन प्राप्त करने का आन्दोलन नहीं है। लोगों में परिवर्तन लाने का आन्दोलन है। इसलिए हमारे काम में श्रद्धा होनी चाहिए, भक्ति की गहराई होनी चाहिए।

सर्वत्र हरिदर्शन

वास्तव में हमारा सुबह से शाम तक व्यवहार ही ऐसा होना चाहिए, हमें यह कोशिश ही करनी चाहिए कि हम मानें कि जिस किसीका भी दर्शन हो, वह हरिदर्शन ही है। अन्दर से जो यह कोशिश चलेगी, वह ठीक से चल रही है या नहीं, यह देखने के लिए हमें सतत जागरूक रहना चाहिए। इसलिए प्रार्थना की जरूरत है। प्रार्थना में सब भक्त-जन अन्तर्मुख होकर बैठते हैं और ईश्वर के सामने हैं, ऐसा खयाल करते हैं। हमारे दिनभर के काम से हमारी परीक्षा होती है। अगर यह खयाल रहा, तो इस आन्दोलन का तेज बढ़ेगा। हमें किसी प्रकार का संकोच या परदा नहीं रखना चाहिए। जब हम दूसरे मनुष्य के साथ व्यवहार करते हैं, तो हमें ऐसा लगना चाहिए

४

कि हम ही अपने आपसे व्यवहार कर रहे हैं। ऐसा हमारा ढंग रहा, तो यह काम बहुत जल्द आगे बढ़ेगा।

'विस्तार' जीवन-शक्ति-रहित न हो

अब तो यह काम आगे बढ़ने ही वाला है। कांग्रेस और दूसरी संस्थाएँ भी इसको उठा रही हैं। इसका 'वॉल्यूम्' (विस्तार) बढ़ेगा। अब सन् सत्तावन भी नजदीक आ रहा है, तो काम बढ़ेगा ही। लेकिन, सिर्फ 'वॉल्यूम्' बढ़ने से काम नहीं होगा। वह बढ़े, परन्तु अन्दर की 'स्पिरिट' (जीवन-शक्ति) की जरूरत है। इसी वास्ते कुछ अच्छे कार्यकर्ता हमारे साथ घूमते हैं, ऐसे वर्ग चलते हैं, तो उनको लाभ होता है। यह सब अच्छा है। हम लोग अन्दर से उसे ग्रहण करें, तभी शक्ति पैदा होगी। अन्यथा वह नहीं पैदा होगी। इतने ही कार्यकर्ता ठीक से समझ जायँ, तो सारे बंगाल के परिवर्तन के लिए इतनी शक्ति काफी है। दुनिया क्या कहती है, अखबारवाले हमारे बारे में क्या लिखते हैं, कोई स्तुति करता है या निन्दा, इसकी कोई चिन्ता नहीं होनी चाहिए। अगर हमारा काम स्वच्छ, निर्मल, निरहंकार है, तो हमने पूरा हासिल कर लिया।

नम्रता और सहिष्णुता

'तृणादपि सुनीचेन, तरोरिव सहिष्णुना'—ऐसा हमें होना चाहिए। शायद यह चैतन्य महाप्रभु का ही वाक्य है या उनके पन्थ का है। भक्त को खुद को तिनके से भी नीच मानना चाहिए और जैसे वृक्ष सहिष्णु होता है, वैसे ही भक्त को भी सहिष्णु होना चाहिए।

अगर यह वाक्य हमारे जीवन में आ जाय, तो यहाँ पर जो चन्द लोग बैठे हैं, वे ही सारे बंगाल में ज्योति प्रकट करेंगे।

खाजरा,
मेदिनीपुर (बंगाल)
२१-१-'५५

खेती द्वारा जीवन-विकास : ६ :

आज के व्याख्यान में हमने जो बात छेड़ी है, उसके बारे में कुछ अधिक कहेंगे। हम ऐसा समाज बनाना चाहते हैं, जिसमें आदर्श तो यह होगा कि हर शख्स का खेती से सम्बन्ध हो, लेकिन अगर हम इस आदर्श तक नहीं पहुँच पाये, तो कुछ लोग ऐसे रह सकते हैं, जिनका खेती से सम्बन्ध नहीं रहेगा। आदर्श तो यही है कि हर व्यक्ति खेती करके उसके साथ-साथ दूसरा उद्योग करे; जैसे बढ़ई का हो, शिक्षक का हो। अगर हम इस बात का ठीक से चिन्तन करेंगे, तो हमारे कार्यकर्ताओं को अपने जीवन में यह बात लानी होगी। आज हम भूमि माँगने के लिए घूम रहे हैं। अतः हर रोज खेती के लिए चार घण्टा नहीं दे सकते। फिर भी खेती के काम की हमें आदत होनी चाहिए और जमीन के बँटवारे के बाद निर्माण का जो काम हमें करना है, उसमें यह बात बहुत जरूरी है।

खेती का आग्रह क्यों ?

आप लोगों को सोचना चाहिए कि मैं खेती का इतना आग्रह क्यों रख रहा हूँ। मैं मानता हूँ कि खेती के साथ मनुष्य के विकास का सम्बन्ध आता है। जीवन-विकास के लिए खेती आवश्यक है। खेती के बगैर कोई पुरुष नहीं हो सकता, ऐसा तो नहीं कहेंगे। आत्मा में कई प्रकार की शक्तियाँ होती हैं, इसलिए किसी मनुष्य का अगर खेती से सम्बन्ध न भी रहा, तो भी उसका पूर्ण विकास होना असंभव नहीं है। लेकिन, साधारणतया यह कहा जा सकता है कि खेती के साथ सम्बन्ध न हो, तो पूरा विकास नहीं होगा। जैसे, आज माना गया है कि लिखना-पढ़ना न जानने से पूर्ण विकास नहीं हो सकता। मैं तो कहूँगा कि यह विचार सन्देहास्पद भी हो सकता है। लेकिन, यह कहा जा सकता है कि खेती के साथ मनुष्य का सम्बन्ध न हो, तो विकास

नहीं होगा। हम लिखने-पढ़नेवालों की गिनती करते हैं और कहते हैं कि देश में सौ प्रतिशत शिक्षित बनें, तो अच्छा होगा। मैं कहता हूँ कि वही वृत्ति खेती के लिए हो। देश में जितने ज्यादा फीसदी लोग खेती जानते होंगे, उतना ही शीघ्र देश का विकास होगा। मेरा यह विचार अनुभव पर खड़ा है। मैं मानता हूँ कि दूसरे उद्योगों से भी विकास होता है, परन्तु उतना नहीं, जितना खेती से होता ह। दूसरे उद्योगों के जरिये जो विकास होता है, वह खेती का पूरक होता है। इसलिए हम चाहते हैं कि हर कोई खेती के साथ दूसरे उद्योग करे।

सबका प्रकृति से नाता हो

यह एक स्वतन्त्र दर्शन है, तत्त्वज्ञान है। हम मानते हैं कि हर मनुष्य का कुदरत के साथ सम्बन्ध होना चाहिए। अगर हर मनुष्य का खेती के साथ सम्बन्ध रहेगा, तो डॉक्टर का धन्धा बन्द हो जायगा। जिस समाज में डॉक्टर की जरूरत नहीं है, वह समाज उत्तम समाज है, आदर्श समाज है। यह तो तब साध्य होगा, जब हर कोई खेती करेगा। वैसे खास शरीर-संवर्धन के लिए जो व्यायाम चलता है, उसकी तुलना में खेती बहुत ही अच्छी है। क्योंकि, कुश्ती का अखाड़ा मकान के अन्दर होता है, जहाँ खुली हवा नहीं मिलती। इसलिए कुश्ती खेलनेवाले दीर्घायु होंगे, यह उम्मीद हम नहीं कर सकते। परन्तु खेती करनेवाले दीर्घायु होंगे, यह उम्मीद हम कर सकते हैं। मैं मानता हूँ कि ब्रह्मचर्य की साधना के लिए खेती से फायदा होता है। अगर सब लोगों का खेती के साथ सम्बन्ध हो, तो देश का संयम बढ़ेगा। इसलिए हम लोगों के जीवन में यह बात आनी चाहिए और हमें हर रोज खेत में काम करने का कार्यक्रम रखना चाहिए। उससे परिश्रम-निष्ठा बढ़ेगी और भूदान-यज्ञ का विचार विद्युत्-संचार के जैसा जल्दी फैल जायगा।

कोकई,
मेदिनीपुर (बंगाल
२२-१-'५५

भक्ति-मार्ग की साधना : ७ :

आज भक्ति-मार्ग की साधना के बारे में समझाने को कहा गया है।

बहुत लोगों का ऐसा खयाल है कि पहले मनुष्य आज के जंगली जानवरों जैसा ही था। कम-वेशी सही, पर वह जानवर ही था। तब उसे सृष्टि के रहस्य का कोई ज्ञान न था और ज्ञान के अभाव में उसे भय मालूम होता था। बारिश हुई, बिजली चमकी, भूकम्प हुआ, तो उसे भय मालूम होता था। वह तो आज भी मालूम होता है। लेकिन, उस जमाने में ज्यादा भय था। इस तरह सृष्टि का रूप उसे ज्यादा भयानक मालूम होता था। परिणामस्वरूप, भयभीत होकर उसका मनोभाव सृष्टि की शरण में जाता था। फिर होते-होते वह इस ओर मुड़ा और इस तरह भक्ति-मार्ग का आरम्भ हुआ। इस तरह कुछ लोग मानते हैं। लेकिन हम ऐसा नहीं मानते।

भक्ति का जन्म प्रीति से

हम मानते हैं कि भक्ति का उद्गम भीति से नहीं, प्रीति से हुआ है। मनुष्य के लिए जितनी स्वाभाविक भीति है, उससे भी ज्यादा स्वाभाविक प्रीति है। भीति तो मनुष्य को भी होती है और जानवर को भी होती है। परन्तु भीति का अनुभव होने के पहले मनुष्य को प्रीति का अनुभव होता है। आज भी हम देखते हैं कि हर प्राणी माता के उदर से जन्म पाता है और वह बचपन में माँ का प्रेम पाता है। इस तरह उसका पहला अनुभव प्रीति का है। बाद में उसे भीति का अनुभव आता है। हमने भक्ति के जो सबसे पुराने स्तोत्र पढ़े हैं, उनमें ईश्वर को माता-पिता कहा गया है। भक्ति-मार्ग में ईश्वर के

भयानक रूप का उतना खयाल नहीं दिखाई देता, जितना ईश्वर के प्रेममय रूप का। ईश्वर के अनन्त गुणों में कुछ गुण ऐसे भी होते हैं, जो हमें हजम नहीं होते और भयावह मालूम होते हैं। इसलिए भीति का आरम्भ होता है। लेकिन पुरानी भक्ति का जो आरम्भ हुआ वह भय से नहीं, प्रेम से ही हुआ।

भीति और प्रीति

जो पुराने जमाने में हुआ, वही इस जमाने में भी हो रहा है। आज भी भीति और प्रीति, दोनों का अनुभव हमें हो रहा है। आज दुनिया में एटम बम का भय छाया हुआ है। पहले यह भय नहीं था। पहले के लोग सृष्टि का भयानक रूप देखकर डरते थे। आज दूसरा भयानक रूप सामने आया है। डर कम नहीं हुआ है, परन्तु स्वरूप बदल गया है। आज भी कितने ही लोग डर के कारण ईश्वर के पास पहुँचते हैं और उससे प्रार्थना करते हैं, क्योंकि ईश्वर उनको भय से छुड़ानेवाला होता है; जैसे कि प्राचीनकाल में भी वह था। परन्तु प्रेम से भी लोग उसके पास पहुँचते हैं। अतः यह खयाल गलत है कि भक्ति का आरम्भ भीति से हुआ और बाद में प्रेम का विकास हुआ। भक्ति के दोनों प्रकार, जिसमें भय भी है और प्रेम भी है, पुराने जमाने से आज तक चले आये हैं और आज भी ये दोनों मौजूद हैं।

कर्म और भक्ति में फर्क

कर्म-मार्ग और भक्ति-मार्ग, दोनों में फर्क है। भक्ति-मार्ग में मनुष्य को परमेश्वर से क्षमा की आशा रहती है। लेकिन कर्म-मार्ग में कर्म का प्रतिफल रहता है। जैसा करो, वैसा पाओ। गलत काम करोगे, तो बुरा फल मिलेगा। अच्छा काम करोगे, तो अच्छा फल मिलेगा। जैसा बोया, वैसा पाया; यह कर्म का नियम है। वह कल्याणकारी ही है। उससे हमारे हाथ में चाबी आती है। हम अच्छा

काम करते हैं, तो हमें अच्छा फल मिलता है। इस तरह कर्म का नियम निठुर नहीं होता, बल्कि वह कहता है कि जैसा बोओ, वैसा पाओ। यह बिल्कुल ही सरल बात है और इससे हर मनुष्य को स्वतन्त्रता रहती है कि मनुष्य जैसा चाहे, वैसा प्राप्त करे।

कर्म के नियम से मनुष्य को भय नहीं मालूम होना चाहिए। फिर भी मनुष्य इतना कमजोर है कि कर्म के परिणाम को सहन करने के लिए वह कितनी ही दफा तैयार नहीं होता। वह गलत काम तो कर लेता है, पर गलत काम का परिणाम भोगने की ताकत उसमें नहीं होती। बुरा काम करने के लिए विशेष क्या चाहिए ? बुरा काम करने की बेवकूफी या मूर्खता तो मनुष्य में होती है। परन्तु अगर उसका फल सहन करना है, तो उसके लिए मजबूती चाहिए, हिम्मत चाहिए, ताकत चाहिए। मैंने जो कुछ किया है, उसका फल मैं भोगूँगा, ऐसी वृत्ति रही, तो उससे मनुष्य की शुद्धि होती है। कर्म-फल टलेगा, तो बुरा होगा, इसलिए कर्म-फल का न टलना ही मेरे लिए अच्छा होगा—इतना मानने की हिम्मत मनुष्य में होनी चाहिए। परन्तु, मनुष्य दुर्बल है। बुरे काम कर लेता है, पर फल सहने की हिम्मत उसमें नहीं होती। इसलिए क्षमा की अपेक्षा होती है। जैसे बच्चा माँ से क्षमा की अपेक्षा रखता है, वैसे ही भक्त ईश्वर से। कर्म-मार्ग से भक्ति-मार्ग की यही विशेषता है कि इसमें क्षमा की आशा होती है।

फल भोगने की हिम्मत

क्षमा कब माँगी जाय और कब कर्म-फल भोगने की तैयारी की जाय ? उसकी क्या मर्यादा है ? ये सब सवाल पैदा होते हैं। मनुष्य को अच्छा काम करने पर लगता है कि उसका फल मिलना ही चाहिए। परन्तु, बुरा काम करने पर उसका फल भोगने की तैयारी उसकी नहीं होती। तो, क्षमा का स्थान कहाँ से आरम्भ होता है और ऐसी हालत में भगवान् से क्षमा माँगना कहाँ तक हमारे विकास के

लिए उचित है, यह सवाल पैदा होता है। यहाँ ऐसा लगता है कि कर्म के नियम और भक्ति के क्षमा-तत्त्व, इन दोनों में कुछ टक्कर हो रही है। इससे छुटकारा कैसे मिलेगा ? भक्ति-मार्ग कहता है कि कर्म का नियम टलेगा नहीं। जिसको भगवान् बचायेगा, उसको भी कर्म का फल तो मिलेगा ही। परन्तु भगवान् उसे बचायेगा, इसका मतलब यही है कि भगवान् उसे फल भोगने की हिम्मत भी देगा। हमने बुरा काम किया, तो उसका फल टलेगा नहीं। परन्तु, उसका परिणाम चित्त पर न हो, इतनी हिम्मत हममें आये, तो हम बच गये। वह हिम्मत प्रार्थना से आती है। चाहे बुरा फल चखना हो, दुःख सहना हो, तो भी वह सारा हरि-प्रसाद मानकर भोगना चाहिए, ऐसा भक्त मानता है। क्षमा का मतलब यह नहीं कि कर्म-फल से बचना। परमेश्वर हमें उससे नहीं बचाता। परन्तु, कर्म-फल के डर से बचाता है। हम उस कर्म के परिणाम को सहर्ष स्वीकार करते हैं। हममें हिम्मत आती है। इस तरह भक्ति-मार्ग का और कर्म-मार्ग का जोड़ होता है।

श्रद्धा का नाम भक्ति

मैं एक मिसाल दूँगा। मनुष्य को शारीरिक बीमारी होती है। हम ऐसा कुछ काम करते हैं, जिसके कारण बीमारी आती है। लेकिन, बीमारी आने पर मनुष्य एकदम पस्त-हिम्मत हो जाता है। उस हालत में अगर ईश्वर की भक्ति का आश्रय लिया जाय, तो ईश्वर की क्षमा-शक्ति उसको बचाती है। इसका मतलब यह नहीं कि उसका रोग टलता है। परन्तु यह होता है कि उसके चित्त को प्रसन्नता और शांति मिलती है। वह सोचता है कि इस बीमारी के जरिये मेरा शुद्धि-कार्य हो रहा है। उसको ताप तो होता है, परन्तु वह उसे महसूस नहीं होता। बल्कि, उसे यह अनुभव होता है कि मैं ईश्वर से कुछ पा रहा हूँ। यह जो भगवत्-प्रेरणा पर मनुष्य की श्रद्धा है, उसीको "भक्ति" कहते हैं।

भक्ति का मतलब यह नहीं कि हम चाहते हैं कि हमें कोई वरदान मिले। उसका मतलब यह है कि ईश्वर की योजना में हमें जो सुख-दुःख के अनुभव आते हैं, उन दोनों में ईश्वर की दया ही है, दोनों अनुभवों से हमारा भला ही होनेवाला है, यह जो दृढ़ विश्वास है, उसीको "भक्ति" कहते हैं।

सबमें प्रभु की कृपा

सुदामा की कहानी है। उसकी पत्नी ने उसे भगवान् के पास भेजा, यह कहकर कि वह तुम्हारा पुराना मित्र है। वह तुम्हारी दरिद्रता मिटायेगा। सुदामा चूड़ा लेकर भगवान् के पास गया। भगवान् ने प्रेम से चूड़ा खाया, उसे अपने आसन पर बिठाया और लौटते समय उसे छोड़ने के लिए वे काफी दूर तक गये। सुदामा सोचने लगा कि प्रभु की मुझ पर कितनी कृपा हुई कि मुझे कोई भौतिक दान नहीं दिया। नहीं तो मैं आसक्ति में फँसता। पत्नी ने मुझे इसीलिए भेजा था। परन्तु भगवान् की अपार कृपा है कि उसने मुझे कुछ नहीं दिया। कोई स्थूल वस्तु नहीं दी।

इस तरह सोचते-सोचते सुदामा घर पहुँचे, तो उन्हें सुवर्णनगरी दीख पड़ी। उसमें हर चीज सोने की थी। उसे देखकर सुदामा को आश्चर्य हुआ। उन्होंने पत्नी से कहा कि यह तो मेरा घर नहीं है। मेरा घर दूसरा ही है। इसलिए यह जो सारा प्रभु का है, वह उसीको लौटायेंगे। इस तरह उसने अनासक्त रहने की बात की।

सुदामा को इधर कुछ नहीं मिला, तो भी उसने कहा कि प्रभु की कृपा है। उधर जब देखा कि कुछ मिला, तो कहा कि यह भी प्रभु की कृपा ह। लेकिन जो मिला है, वह भोग करने के लिए नहीं मिला है, यह सोचकर वह अनासक्त भाव से रहने लगा। इस तरह हर चीज में प्रभु की कृपा मानी जाती है। दोनों तरफ से प्रभु की कृपा का ही अनुभव होता है।

नरसी और तुकाराम

गुजरात का सन्त नरसी मेहता ऐसा ही था। उसका लड़का मर गया। लड़का मर जाय, तो बाप को खुशी नहीं होती। दुःख न हो, तो ही काफी है। कोई आत्मज्ञानी हो, तो उसे दुःख नहीं होता। लेकिन, उससे भी कोई खुशी की अपेक्षा नहीं करता। लेकिन, नरसी मेहता ने कहा कि लड़का मर गया, तो बहुत अच्छा हुआ, आसक्ति मिट गयी। अब भगवान् की भक्ति बेखटके करूँगा। इस तरह लड़के को भगवान् ले गया, तो भी वह उसकी कृपा ही है, ऐसा उसने माना। इसीको "भक्ति" कहते हैं।

महाराष्ट्र का भक्त कवि तुकाराम भी यही कहता है :

बाईल मेली मुक्त झाली,
देवें माया सोडविली
विठो तुझे माझे राज्य।

—हे भगवान्, मेरी पत्नी मर गयी, तो अच्छा ही हुआ। तूने मुझे आसक्ति से छुड़ाया। अब तेरा-मेरा राज्य होगा। अब तक बीच में एक पत्नी, तीसरी थी। लेकिन उसे तूने हटा दिया। तो अब तुझमें और मुझमें कोई परदा नहीं रह गया।

मन की समता

भक्त की ऐसी वृत्ति रहती ह। पुत्र हुआ, तो कहता है कि भगवान् के प्रसाद से हुआ। पुत्र मर गया, तो कहता है कि ईश्वर की कृपा से मरा। भक्त की भूमिका यही है कि वह सुख में, दुःख में; कर्म के अच्छे फल में, बुरे फल में; दोनों में भगवान् की कृपा ही मानता है और कहता है कि यह सब भगवान् की ही योजना से हुआ है। इसलिए भक्त के मन की समता कायम रहती है। उसे अत्यन्त स्वाभाविक रीति से यह समता प्राप्त होती है, जो योगी के लिए अत्यन्त कठिन होती है।

भक्ति-मार्ग सरल

मन को हर हालत में समत्वयुक्त रखना बड़ा कठिन है। कर्म-योग में यह मुश्किल हो जाता है। शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान, सबको समान मानना मुश्किल होता है। गीता कहती है कि कर्म करते समय इनका खयाल मत करो। ये सब शरीर के सुख-दुःख हैं और हम इनसे भिन्न हैं। लेकिन, इस तरह अपने को शरीर से अलग करना आसान बात नहीं है।

शरीर का उपयोग करते हुए भी मन में यह कल्पना करना कि हम इससे अलग हैं, बड़ा कठिन होता है। मन भी शरीर का हिस्सा है। इसलिए यह ज्ञान-मार्ग की बात मनुष्य के लिए कठिन होती है। कर्म-मार्ग में सुख-दुःख, पाप-पुण्य, दोनों होते हैं। उसमें कर्म का नैसर्गिक परिणाम भोगने की बात हो जाती है। अगर तुम फल भोगोगे, तो उससे कर्म-क्षय होगा। इसलिए तटस्थ रहकर भोगना चाहिए। ऐसा कर्म-मार्ग कहता है, परन्तु वह कठिन है। भक्ति-मार्ग में तो यही बात है कि जो कुछ सुख-दुःख प्राप्त हुआ, वह सब हरि-प्रसाद है। इसलिए भक्ति-मार्ग में यह युक्ति सधती है। तभी तो भक्ति-मार्ग को आसान कहा गया है। हो सकता है कि कुछ लोगों को प्रेम भी कठिन मालूम हो। लेकिन, साधारणतया सबको भक्ति-मार्ग आसान मालूम होता है।

कुछ को ज्ञान-मार्ग सुगम

यह भी सत्य है कि कुछ लोगों के लिए ज्ञान-मार्ग ही आसान होता है। उनको बचपन से प्रेम का उतना अनुभव नहीं होता, जिनके माता-पिता बचपन में ही मर गये होते हैं और दूसरों ने जिनका पालन किया, जिनकी उपेक्षा ही की गयी। ऐसे भी कितने ही लोग हो सकते हैं। ऐसे मनुष्यों के लिए प्रेम की अपेक्षा चिन्तन और ध्यान अधिक स्वाभाविक होता है। जिसे प्रेम का अनुभव नहीं है, उसे प्रेम-

मार्ग कठिन मालूम हो और ज्ञान-मार्ग आसान मालूम हो; देह से अपने को अलग करने का चिंतन उसके लिए आसान हो, यह भी सम्भव है। परन्तु यह बात कुछ विशेष व्यक्तियों के लिए ही है।

आम लोगों के खयाल से देखा जाय, तो भक्ति-मार्ग आसान है। उसकी यह खूबी है कि उसमें मनुष्य एक-दूसरे को स्थूल दृष्टि से नहीं देखते। कर्म-मार्ग में तो यह कहना ही पड़ता है कि मनुष्य पाप-पुण्य करता है, तो उसका फल टलेगा नहीं। अमुक मनुष्य ने इतना पाप किया है, तो उसे उसका फल भोगना ही पड़ेगा। मनुष्यों की योग्यता भी कम-वेशी होती है, यह भी कहना पड़ता है। यह विवेक कर्म-मार्ग में रहता है, यद्यपि तटस्थता होती है। इस तरह मनुष्यों के बीच काम करते हुए चित्त पर असर न होने देना और विवेक करते हुए तटस्थ रहना कुछ कठिन मालूम होता है।

ज्ञान की साधना

ज्ञान-मार्ग में तो यह बात है कि जो कुछ होता है, उसे मिथ्या ही माना जाय। अब मनुष्य के लिए यह भी कठिन होता है कि जो हो रहा है, उसे नहीं हो रहा है, ऐसा माना जाय। यह चीज मनुष्य को जल्दी ग्रहण नहीं होती। किसी काम की निन्दा-स्तुति नहीं करनी चाहिए। क्योंकि वह जो करता ह, वह सब मिथ्या है, स्वप्न है, जैसे स्वप्न में कोई राजा बनता है या भिखारी बनता है, तो उसका सुख-दुःख, दोनों मिथ्या है। इस तरह दुनिया में भी जो चल रहा है, वह सब मिथ्या है। ऐसी कल्पना करने से मनुष्य बच जाता है। वैसे, अगर अपनी वात कहूँ, तो मुझे यह कल्पना बहुत जँच गयी है। मुझे लगता है कि जो कुछ हो रहा है, वह सब भ्रम ही है। अपने चिन्तन के कारण मुझे लगता है कि सामने कुछ है ही नहीं। लेकिन यह बात हरएक को नहीं सधती। सामने सारा जंजाल पड़ा है, फिर भी समझना कि यह कुछ भी नहीं है, कठिन हो जाता है। ज्ञान-योग की युक्ति तो कारगर

है। कुछ है ही नहीं, ऐसा कहने से चित्त पर कुछ भी असर नहीं होता। परन्तु ऐसा मान लेना मनुष्य के लिए शक्य-प्राय हो जाता है।

कर्म-योग में कठिनाई

कर्म-मार्ग में हम मिथ्या को नहीं मान सकते, परन्तु यह कहते हैं कि जो चल रहा है, वह मनुष्य के अनेक कर्मों का परिणाम है। इसलिए तटस्थ रहना चाहिए। एक मनुष्य के प्रयत्न से कोई चीज नहीं बनती, सारे समाज के प्रयत्न से बनती है। इसलिए जमीन की मालकियत की बात भी गलत है, ऐसा कहा जाता है। जमीन तो सामाजिक वस्तु है। मनुष्य जमीन या सम्पत्ति, जो कुछ हासिल करता है, वह अकेला नहीं करता, सारे समाज की मदद से हासिल करता है। मनुष्य जो कुछ करता है, वह उसकी तालीम का, संगति का और परिस्थिति का परिणाम होता है। वह अकेला उसके लिए जिम्मेवार नहीं है, ऐसा कर्म-योग में माना गया है। तो, कर्म-योग की युक्ति यह है कि मनुष्य जो कर्म करता है, उसके लिए वह अकेला जिम्मेवार नहीं होता। बल्कि, उसका कर्म परिस्थिति-जन्य होता है। उस कर्म के लिए उसकी तालीम, उसकी परिस्थिति, ये सब जिम्मेवार हैं। इसलिए वह कर्म अपरिहार्य है, ऐसा मानना चाहिए। अगर यह युक्ति जम जाय, तो मनुष्यों के बीच काम करते हुए भी समता सध सकती है। फिर भी यह सधती नहीं ह; क्योंकि हम भी उसीमें फँसे रहते हैं।

कोई आदमी समुद्र के किनारे पर खड़ा है, तो वह कहता है कि समुद्र कितना सुन्दर ह, तरंगें उठती जाती हैं, तो पहाड़ जैसी लगती हैं, उन्हें देखकर कितना आनन्द मालूम होता है! परन्तु, जो मनुष्य समुद्र में है, और समुद्र में बड़ी-बड़ी तरंगें उठ रही हों, तो ऐसी हालत में भी यदि वह कहे कि खूब मजा आ रहा है, यह कुछ कठिन मालूम होता है। इसी तरह, जीवन के इस खेल में हम सब खेलते हैं, तो ऐसे मनुष्य के लिए यह मानना कि हम इससे अलग हैं, कुछ

कठिन होता है। लेकिन, यह कठिन न मालूम हो, तो समत्व सध सकता है। परन्तु मनुष्य के लिए यह मानना कठिन होता है। इसलिए कर्म-योग उतना आसान नहीं है।

सब कुछ प्रभु की लीला

भक्ति-मार्ग की बात दूसरी है। भक्ति-मार्ग में आदत हो जाती है कि सामने जो चल रहा है, उसे प्रभु की लीला समझें। ज्ञान-मार्गी कहते हैं कि वह स्वप्न है। कर्म-मार्गी कहते हैं कि वह सारा परिस्थिति का परिणाम है। लेकिन, भक्ति-मार्गी कहते हैं कि वह तो खेल है, नाटक है। अगर नाटक में किसीको विश्वामित्र का पार्ट मिले, तो उसे विश्वामित्र की तरह तकलीफ उठानी पड़ेगी और किसीको हरिश्चन्द्र का पार्ट मिले, तो उसे हरिश्चन्द्र की तरह सत्यवादी बनना पड़ेगा। लेकिन, यह सब है नाटक ही। तुलसीदासजी कहते हैं कि जैसे शतरंज के खेल में हाथी, घोड़े, सब होते हैं, पर सब काठ के ही बने हुए होते हैं। उसमें यह बात तो होती है कि हाथी एक प्रकार से चलता है, घोड़ा दूसरे प्रकार से चलता है; परन्तु है सारा खेल ही। वैसे ही भक्ति-मार्ग में यह माना जाता है कि यह सब प्रभु की लीला चल रही है। परमेश्वर अनेक रूप लेकर लीला कर रहा है।

वैसे, सोचो तो इसको खेल मानना ही कठिन हो जाता है। शंकराचार्य ने गीता पर जो भाष्य लिखा है, उसके बारहवें अध्याय में बताया है कि निर्गुण में अधिक क्लेश होते हैं, सगुण में कुछ कम। इसलिए सगुण-मार्ग आसान और निर्गुण-मार्ग कठिन, यह कहा गया है। लेकिन, शंकराचार्य ने लिखा है कि निर्गुण में 'क्लेशः अधिकतरः।' याने निर्गुणवाले को अधिकतर क्लेश होते हैं। सगुण को भी 'अधिक' क्लेश तो होता है, पर निर्गुणवाले को 'अधिकतर' होता है। इसलिए भक्ति-मार्ग आसान है, ऐसा जो कहा जाता है, उसका मतलब यह नहीं कि उसमें कुछ नहीं करना पड़ता या कुछ नहीं सहना पड़ता

और जीवन चाहे जैसा चले, चलने दो, यह बात नहीं है। भक्ति-मार्ग में अत्यधिक त्याग करना होता है, परन्तु वह त्याग महसूस नहीं होता।

कष्ट में भी आनन्द

माता अपने बच्चे के लिए कितना त्याग करती है। अगर किसी संस्था के सेक्रेटरी से कहिये कि अपने काम की रिपोर्ट लिखिये, तो वह कितनी बड़ी रिपोर्ट लिखता है। परन्तु माता से कहो कि तुम लिखो कि सालभर में अपने बच्चे के लिए क्या-क्या किया? तो, माता कहेगी कि मैंने उसके लिए किया ही क्या है? सुबह-शाम, रात-दिन मेरा वही काम चला, तो उसमें लिखना क्या है? माता को एक साल की रिपोर्ट लिखने में ही एक साल लगेगा। इसका मतलब यह नहीं कि बच्चे की सेवा करने में उसे क्लेश नहीं हुआ है। क्लेश तो हुआ, परन्तु उससे उसके मन में प्रसन्नता होती है, उसे प्रेम का अनुभव होता है। जहाँ प्रेम का अनुभव हो, वहाँ तकलीफ नहीं होती, ऐसी बात नहीं। परन्तु, वह तकलीफ मालूम नहीं होती। बच्चे, खेलते हैं, तो खेलने में पसीना-पसीना हो जाते हैं; परन्तु, उन्हें खेल में श्रम मालूम नहीं होता। उनसे कोई अन्य काम कराओ, तो उन्हें मालूम होगा कि तकलीफ हो रही है। यही फर्क है। भक्ति-मार्ग में क्लेश या कष्ट नहीं है, ऐसा नहीं। परन्तु उसमें जो कष्ट हैं, वे मालूम नहीं होते। यहाँ कष्ट आनन्द का हिस्सा बन जाता है। अगर किसीको कड़वी मेथी का लड्डू खाने की आदत पड़ गयी, तो उसे उसमें भी स्वाद आता है। हमारे आश्रम में एक लड़का आया था। उसको नीम की पत्ती ही बहुत भाती थी। वह भी एक स्वाद होता है। इसमें आदत का सवाल है। तो, तकलीफ में भी आनन्द महसूस हो, यह भक्ति-मार्ग की युक्ति है।

भक्ति का सार-सर्वस्व

हिन्दुस्तान में जो भक्ति-मार्ग चला है, वह प्राथमिक स्वरूप का है। लोग नामस्मरण करते हैं और सुबह-शाम भगवान् को याद करते हैं। खाने के समय भी याद करते हैं। तो, इस तरह सर्वसाधारण श्रद्धा उन्होंने कायम रखी। उसके आधार पर अब हम लोग आगे बढ़ सकते हैं। परन्तु, भक्ति-मार्ग का सार-सर्वस्व उसमें नहीं है। सार-सर्वस्व तो इस बात में है कि दिनभर हमें जो-जो व्यक्ति मिले, हमें ऐसा अनुभव हो कि हमें भगवान् का ही दर्शन हो रहा है। सामने कोई भी आये, मनुष्य आये, तो मनुष्य-रूप में भगवान् दर्शन दे रहा है, कुत्ता आये, तो कुत्ते के रूप में भगवान् दर्शन दे रहा है, गदहा आये, तो गदहे के रूप में दर्शन दे रहा है, ऐसा अनुभव होना चाहिए।

यहाँ मैंने गदहे का नाम लिया, यह शायद आपको कुछ अजीब-सा लगेगा। लेकिन, मैंने इसका अभ्यास किया है। उन दिनों मेरा गणित का अध्ययन चलता था। बीच में कभी-कभी गदहे की आवाज सुनाई देती थी, तो मुझे तकलीफ होती थी। एक दिन मैंने सोचा कि इससे तकलीफ क्यों होनी चाहिए। इससे तो आनन्द ही मानना चाहिए। उस गदहे की आवाज सुनकर दूसरे गदहे को तो अच्छा ही लगता होगा और वह प्रेम से उसके पास जाता होगा। तो फिर हमें ही उसकी आवाज क्यों बुरी मालूम हो ? इस प्रकार यह भी अच्छी आवाज है, ऐसा मानने की मैंने कोशिश की। उसमें मुझे एक घटना से अधिक बल मिला। उन दिनों हम बड़ौदा में थे। वहाँ एक संगीत-सम्मेलन हो रहा था। हम उसमें गये। वहाँ लोग तरह-तरह की आवाज निकालते थे। मुझे वह सब सुनकर भद्दा लगा। वे तो अपनी ओर से गायन का कमाल दिखा रहे थे, लेकिन मुझे आनन्द नहीं महसूस हुआ। मैंने सोचा कि यदि यह भी 'संगीत' कहलाता है, तो अब गदहे की आवाज को भी 'संगीत' कहना होगा।

इसलिए फिर जब कभी मैं गदहे की आवाज सुनता था, तो गणित छोड़कर मैं कोशिश करता था कि उसे अच्छी आवाज समझूँ।

गदहे के लिए आदर का अभ्यास

कई दिनों के बाद गदहे की आवाज सुनने का मुझे इतना अभ्यास हो गया कि मैंने उसमें करुणा देखने की कोशिश की। मैंने सोचा कि उस पर कितना बोझ लादा जाता है और उसे कितना कम खिलाया जाता है। मैंने बाइबिल में पढ़ा था कि ईसामसीह की सवारी 'म्यूल' (खच्चर) पर निकली। अब म्यूल तो गदहे का ही भाई है। यहाँ तो उसको अशुभ मानते हैं, परन्तु बाइबिल में उसका इस तरह से जिक्र किया गया है। फिर मैंने पढ़ा कि फिलस्तीन में खच्चरों को ही नहीं, गदहों को भी बहुत अच्छी तरह से रखते हैं। उनमें भी घोड़ों जैसे गुण होते हैं। तो कुल मिलाकर यह हुआ कि मेरे मन में गदहे के लिए आदर पैदा हुआ।

एक दफा बापू ने कहा कि हम तो बड़े-बड़े विद्वान होकर आश्रम में आते हैं, लेकिन हमें 'गदहा-मजदूरी' करनी चाहिए। इसका मतलब यह था कि हमें श्रम करना चाहिए। विद्वान होने का घमंड नहीं होना चाहिए। लेकिन 'गदहा-मजदूरी' यह शब्द मुझे बहुत अच्छा लगा। आज मेरी हालत यह है कि कोई गदहा चिल्लाये, तो मुझे बहुत अच्छा लगता है। हम तो उसे 'गदहा-राग' समझते हैं, जैसे दूसरे राग होते हैं। हम उसे प्यार से सुनते हैं।

सबमें भगवद्दर्शन

यह तो अभ्यास का विषय है कि हमारे सामने जो-जो आये, उसमें हम भगवान् का ही दर्शन पायें। यह भक्ति-मार्ग का विषय है। बाकी जो भजन-पूजन आदि चलता है, वह तो आरम्भमात्र है। वह तो प्राइमरी स्कूल है। लेकिन, भक्ति-मार्ग का वास्तविक 'कोर्स' तो यही

है कि सामने जो कोई आये, उसे भगवान् का ही रूप मानें। भागवत में लिखा है कि नदी, पहाड़, पानी, जो भी दीखे, हरि-शरीर ही दीखता है। इसलिए जो भी प्राणीमात्र दीखे, उससे हमें आनन्द होना चाहिए और उसे प्रणाम करना चाहिए। भक्ति-मार्ग की या भागवत-धर्म की यही मुख्य प्रक्रिया ह। अगर इसका अभ्यास हो जाय, तो सबमें हम भगवान् के दर्शन करेंगे।

सुवर्ण के भिन्न-भिन्न आकार होते हैं, परन्तु सुवर्ण तो सुवर्ण ही है। अगर सुवर्ण का अलंकार टेढ़ा हो, तो बच्चा उसे टेढ़ा समझकर फेंक देता है। लेकिन जो उसे पहचानता है, वह कहेगा कि यह तो सोना है, चाहे टेढ़ा ही क्यों न हो। उसी तरह ईश्वर-तत्त्व को ग्रहण करने का अभ्यास हो जाय, तो सबमें भगवान् के तरह-तरह के रूप दिखाई देंगे।

ज्ञान-मार्ग में, सब दुनिया मिथ्या ह, यह समझने का अभ्यास करना होता है। भक्ति-मार्ग में सब भगवान् का ही रूप है, यह समझने का अभ्यास करना होता है। तो ज्ञान-मार्ग 'निगेटिव' है, अभावात्मक है और भक्ति-मार्ग 'पॉजिटिव' याने भावात्मक है। अभाव पर या शून्य पर आरूढ़ होना कठिन है, लेकिन भाव पर, पूर्ण पर आरूढ़ होना कुछ आसान है। यह सब पूर्ण है। "पूर्णमदः पूर्णमिदं", यह मानना कुछ आसान है, लेकिन "शून्यमदः शून्यमिदं", यह मानना कुछ कठिन है। लेकिन इसमें भी एक बात है कि पूर्ण को दिखाने के लिए शून्य का ही उपयोग किया जाता है। इसका मतलब यह है कि पूर्ण और शून्य का एक ही 'सिम्बॉल' (चिह्न) होता है। अर्थात् दोनों मार्ग एक ही मुकाम पर पहुँचते हैं। हाँ, एक की पद्धति 'निगेटिव' है, तो दूसरे की 'पॉजिटिव'। किसीको यह सधता है, तो किसीको वह सधता है। परन्तु आम तौर पर यह कहा जा सकता है कि भक्ति-मार्ग आसान है, ज्ञान-मार्ग उतना आसान नहीं है।

कर्म, ज्ञान और भक्ति

कर्म-मार्ग कहता है कि यह जो सारा चल रहा है, वह परिस्थिति-जन्य है। तो, कर्म-मार्ग सब कुछ परिस्थिति पर, World Forces पर या प्रकृति पर छोड़ता है। ज्ञान-मार्ग आत्मा पर छोड़ता है। शरीर से आत्मा भिन्न है और यह सारा शरीर मिथ्या है, बाहर का ही रूप है, मरनेवाला है। इस तरह ज्ञान-मार्गी आत्म-परायण होते हैं, भक्ति-मार्गी प्रभु-परायण होते हैं। वे सब कुछ भगवान् पर छोड़ते हैं। इस प्रकार, ज्ञान-मार्गी आत्म-परायण, कर्म-मार्गी प्रकृति-परायण और भक्ति-मार्गी ईश्वर-परायण होते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि हम ईश्वर को नहीं मानते। हम कहते हैं—ठीक है, मत मानो, लेकिन ईश्वर तो आपको मानता है। अगर लड़का माँ की परवाह नहीं करता और माँ लड़के को पूछती है, तो कोई खतरा नहीं है। ईश्वर आपकी परवाह करता है, तो कोई खतरा नहीं है। इसलिए कर्म-मार्ग से और ज्ञान-मार्ग से हम बच सकते हैं, परन्तु ईश्वर को छोड़कर बचना अधिक कठिन है, ऐसा हमें लगता है।

रसूलपुर,
मेदिनीपुर (बंगाल)
२३-१-'५५

अनिन्दा और निराग्रह

नाम-संकीर्तन तो हो गया। अब ये नाम हमको याद तो नहीं रहेंगे। फिर भी, यह नाटक कर लिया। इसलिए कि बंगला के तरह-तरह के नाम कान तक पड़ेंगे, तो सुनूँगा। नाम का परिचय तो हो गया। रूप भी देख लिया। यह भी याद नहीं रहेगा। फिर भी, रूप-दर्शन का आनन्द होता है।*

कर्म और गुण

मनुष्य का परिचय नाम और रूप से नहीं होता। उसका परिचय कर्म और गुण से होता है। कर्म से हम मानते हैं कि आप भूदान का कार्य करेंगे। आज तक दूसरे-तीसरे काम आपने किये हैं। उनका परिचय मुझे नहीं है। लेकिन, आपको मैंने भूदान का कार्यकर्ता मान लिया है। अब रहा गुण। गुण तो बदलते रहते हैं। हम देखते हैं कि कठोर मनुष्य कभी दयालु बन जाता है। कभी कोई पहले से डरपोक हो, तो आगे चलकर भयहीन हो जाता है। गुण परिवर्तनशील हैं। हम तो आशा करते हैं कि स्थितप्रज्ञ के जो लक्षण रोज गाते हैं, उन गुणों का अनुकरण आप करेंगे। आहिस्ता-आहिस्ता वे भी गुण हममें आयेंगे और स्थितप्रज्ञ का जो परिचय है, वही हमारे गुणों का परिचय हो गया, तो हमारा काम ही बन गया। लेकिन, इतने सारे गुण न आयें, पर बुनियादी गुण भी आ जायँ, तो आपकी सामूहिक शक्ति बढ़ेगी। इस शक्ति में बड़ा गुण है।

---

* कार्यकर्ताओं द्वारा अपना-अपना परिचय देने के बाद आज का प्रवचन शुरू हुआ।

पीठ पीछे निन्दा नहीं

किसीके पीछे, दूसरे के सामने किसी मनुष्य के दोषों की चर्चा नहीं होनी चाहिए, यह बात सामूहिक गुण में आयेगी। तो, नाहक जो गलतफहमियाँ होती हैं, वे दूर हो जायँगी। इसमें मनुष्य के पीछे उसके गुणों का ही उच्चारण करना चाहिए। अगर उसके दोषों का उच्चारण करना है, तो एकान्त में जाकर या उस मनुष्य के दो-चार मित्र हों, जिनके सामने चर्चा करने में कोई हर्ज न हो, ऐसे लोगों के साथ बैठकर उसके दोषों का उच्चारण हो सकता है। यह गुण कार्यकर्ता के लिए आवश्यक है। यह एक बात ध्यान में रखी जाय।

मनुष्य दूसरों के दोषों को देखता है, तो उसको लगता है कि उससे कई गुना अधिक दोष दूसरे में हैं। अपने दोषों को वह कई गुना कम समझता है। दूसरे के गुण देखता है, तो उसे लगता है कि उससे कई गुना कम गुण दूसरे में हैं। अपने को वह कई गुना अधिक समझता है। यह स्वाभाविक है। इसमें खास मनुष्य का दोष नहीं है। लेकिन, इसके बावजूद विश्वास होना चाहिए। परस्पर विश्वास के बिना जीवन निरर्थक बनता है।

दूसरे के दोषों को मनुष्य ज्यादह मान लेता है और अपने गुणों को अधिक। क्योंकि, अपने गुणों के लिए काफी तपस्या उसने की है, इसका भान उसे होता है। दूसरे के गुणों के लिए इतना परिचय उसे नहीं है। इसलिए स्वभावतः दोष ज्यादा और गुण कम देखता है। मनुष्य को अगर दूसरे का गुण थोड़ा भी दीखता हो, तो भी वह ज्यादा है, ऐसा समझ लेना चाहिए। जैसे हम 'स्केल' (पैमाना) में एक इंच में चार मील समझते हैं, वैसे ही दूसरे के गुण अपने से दसगुना अधिक हैं, ऐसा समझ लेना चाहिए। अपने दोषों को दसगुना अधिक बढ़ाकर देखना चाहिए। इस तरह देखते जायँ, तो ठीक 'स्केल' होगा और सम्यक् दर्शन होगा।

अनिन्दा का व्रत

यह अनिन्दा-व्रत अहिंसा में हमें सँभालना है। कार्यकर्ताओं के लिए अनिन्दा एक व्रत होना चाहिए। अहिंसा रखते हुए अनिन्दा-व्रत होना चाहिए। दोनों में गुण हैं। हम किसीकी अच्छी बात सुनते हैं, तो उसे फौरन मानने के लिए हमें राजी होना चाहिए। चित्त की वैसी वृत्ति बननी चाहिए। किसीके बारे में कोई गलत खबर सुनें, तो चित्त मानने को राजी नहीं है, ऐसा होना चाहिए। जब गलत बात सुनें, तो प्रथमतः यह बात गलत ह, ऐसा ही भाव मन में होना चाहिए और अगर कोई सबूत मिले, तो लाचार होकर मानना होगा। पर दोष मानने को हम राजी नहीं और गुण मानने को राजी हैं, ऐसा होना चाहिए।

निन्दा पर विश्वास न करें

हमें याद है कि स्कूल में हमें अंग्रेजी में—'वेरी मच' और 'टू' (very much & too) शब्दों का प्रयोग सिखाते थे। "The news is too good to be true." 'इतनी अच्छी बात है कि सच्ची हो नहीं सकती।' हमें तो बड़ा अजीब-सा लगा। हमने गुरुजी से पूछा कि हमें यह समझाइये, तो उन्होंने कहा कि इसका ऐसा ही अर्थ है। फिर परीक्षा में वही सवाल पूछा कि 'टू' (too) का प्रयोग करिये। "The news is too good to be false." 'इतनी अच्छी खबर है कि गलत हो नहीं सकती।' ऐसा हमने लिख डाला। अगर चीज अच्छी है, तो उस पर हम विश्वास नहीं करते। दुनिया में ऐसा होता है कि किसीकी हम अच्छी बात सुनते हैं, तो फौरन विश्वास नहीं करते; लेकिन निन्दा पर विश्वास करते हैं। उसके लिए हमेशा सबूत की जरूरत नहीं मालूम होती। होना तो उल्टा चाहिए कि निन्दा सुनें, तो उसे मानना ही न चाहिए।

तर्कशास्त्रीय विचार

किसीको हमेशा शंकाशील दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। भक्ति-मार्ग में और सेवा-मार्ग में यह बड़ी बाधक बात हो जाती है। स्वभावतः अच्छी बात सही ही होनी चाहिए। इस विषय में एक तर्कशास्त्रीय विचार आपके सामने रखना चाहता हूँ। "स्वतः प्रमाणम् परतः प्रमाणम्", यह शास्त्रीय शब्द है। इसे इसलिए आपके सामने रखना चाहता हूँ कि किसी भी विषय में गहराई से सोचना चाहिए। इस बात की आदत पड़नी चाहिए।

बौद्ध, न्यायसूत्र और वेदान्त, इन तीनों के विचार मैं कहूँगा। बुद्ध ने मिथ्यात्व को स्वतः प्रमाण माना और सत्य को परतः प्रमाण माना। इसका मतलब है कि कोई भी चीज मिथ्या हो, तो साबित करने के लिए सबूत नहीं चाहिए और सत्य के लिए सबूत चाहिए। सृष्टि मिथ्या है, इसके लिए सबूत की जरूरत नहीं है। लेकिन, सत्य है तो उसको सिद्ध करना चाहिए। उसके लिए सबूत पेश करना होगा।

जैसे, कानून में होता है कि उसमें फरियादी पर सबूत पेश करने की जिम्मेवारी आती है। जिस पर आरोप हो, उस पर यह जिम्मेवारी नहीं आती। यह ठीक ही है। वेदान्त भी यही कहता है कि सत्य के लिए सबूत नहीं चाहिए। लेकिन, मिथ्या के लिए सबूत चाहिए। बौद्ध-विचार उल्टा माना जाता है। वे मिथ्यात्मक के लिए सबूत नहीं चाहते, सत्य के लिए सबूत चाहते हैं।

न्यायशास्त्र कहता है कि सत्य और मिथ्या, दोनों के लिए सबूत चाहिए। सत्य है, तो भी सबूत दीजिये और मिथ्या है, तो भी सबूत दीजिये। वेद कहता है कि वेद प्रमाण है, क्योंकि वह सत्य है और आज का कानून भी वेदान्त पर खड़ा है। याने मनुष्य-मनुष्य के लिए संशय रखना गलत माना गया है। संशय होगा, तो समाज चलना मुश्किल होगा। इसलिए स्वयम्भू विश्वास रखना चाहिए, यह साधारण मानवता है। अगर यह भी नहीं रहा, तो मानवता नहीं रहेगी।

इसलिए मैंने आपको एक बात यह कही कि अनिन्दा-व्रत लीजिये और दूसरी बात यह कही कि अगर किसीकी अच्छी बात सुनते हैं, तो उसे फ़ौरन मानने को राजी होना चाहिए। सबूत हो, तभी लाचारी से जो अच्छी बात नहीं है, वह माननी चाहिए। सबूत न हो, तो यह बात अच्छी ही है, यह मानना चाहिए। यह कार्यकर्ताओं के लिए पथ्य ही है। इससे बहुत लाभ होगा।

बुरी बात न सुनें

वर्षों से कुछ लोग मेरे साथ रहते आये हैं। उन्हींमें से कोई आकर दूसरे के बारे में जब कोई बुरी बात हमें सुनाता है, तो हम उसे 'डेड लेटर बॉक्स' में भेज देते हैं। सुनते ही नहीं। 'डेड लेटर बॉक्स' में भेजा हुआ पत्र वहीं पड़ा रहता है। लेकिन, जहाँ स्पष्ट सबूत हो, वहाँ हम मानते हैं। तीस-तीस साल से जो लोग मेरे पास रहे हैं, वहाँ ऐसा अनुभव आता है कि उनकी आपस में पटती नहीं है। उनका एक-दूसरे पर विश्वास नहीं रहता। अगर एक-दूसरे पर अविश्वास रखेंगे, तो कुछ काम नहीं हो सकेगा। इसलिए किसीके बारे में अगर कोई शंका है, तो उसे एकान्त में जाकर पूछना चाहिए। समूह में रहनेवालों के लिए यह बात ध्यान में रखनी होगी।

भूदान में अनेक हेतु

भूदान-यज्ञ में सब लोग काम करेंगे। कोई उसमें यह मानता होगा कि भूदान प्राप्त करना वोट ही प्राप्त करना है। कोई कहेगा कि यह काम करूँगा, तो मेरी पार्टी को मदद मिलेगी, कोई कहेगा कि मैं यह काम करूँगा, तो सामाजिक क्रान्ति होगी। किसीको लगता है कि मैं यह काम करूँगा, तो अपनी प्रतिष्ठा बढ़ेगी। किसीको लगता है कि आगे कुछ लाभ होगा। किसीको लगता है कि अपने गाँव को लाभ होगा, प्रान्त को लाभ होगा। इस तरह अनेक ऐसे हेतु लोगों के होंगे। लेकिन ये सारे हेतु जायज हैं, नाजायज नहीं हैं। क्योंकि, कोई प्रतिष्ठा चाहता है, तो

उसे जरूर प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए। हम उसे प्रतिष्ठा दें, यह जायज है। कोई पार्टी को मजबूत करना चाहता है, यह बहुत अच्छा है। इस काम से अगर पार्टी मजबूत होगी, तो अच्छा ही है। लेकिन इतनी ही कामना नहीं दीखती। लोग चाहते हैं कि अपनी पार्टी मजबूत हो और सामनेवाले की पार्टी कमजोर हो। लेकिन, इससे देश कमजोर बनता है, यह उनके ध्यान में ही नहीं आता। अगर दोनों पार्टियों का बल बढ़ेगा, तो देश भी बलवान् होगा। लेकिन, यह ध्यान में नहीं रहता और हर कोई अपनी-अपनी पार्टी को बढ़ावा देने के लिए सोचता है। दूसरों की ताकत घटने से हमें लाभ होगा, यह खयाल ही गलत है। हमें कोई उज्र नहीं है, अगर किसीकी पार्टी को इस काम से लाभ हो। यह भावना अगर हमारे मन में दृढ़ हो जाय, तो अच्छा ही है कि जो भिन्न-भिन्न लोग आते हैं, उनके सारे हेतु जायज हैं। जैसे उनके हेतु हैं, वैसा उनको फल मिलेगा।

गीता में यह बात भगवान् ने कही है—'जो जिस बुद्धि से मेरी सेवा करेगा, भक्ति करेगा, वैसा फल उसे मिलेगा।' अल्पबुद्धि रखी है, तो अल्पफल मिलेगा और बड़ी बुद्धि रखी है, तो बड़ा फल मिलेगा। वैसे ही जिस बुद्धि से जो काम करेगा, वैसा फल मिलेगा। हमें भी इस काम में यही दृष्टि रखनी चाहिए। कोई कहता है कि फलाँ मनुष्य 'इलेक्शन' (चुनाव) में भाग लेता है। तो हम कहते हैं कि 'इलेक्शन' में भाग लेना व्यभिचार है या चोरी है? खून है कि डाका है? अगर कोई 'इलेक्शन' में भाग लेना चाहे, तो हमें कुछ कहना नहीं चाहिए। वह कोई बुरी बात नहीं कर रहा है। अगर किसीका नाजायज हेतु हो, तो उस पर प्रहार होगा। लेकिन, भिन्न-भिन्न उद्देश्य रखते हुए भी अगर वह जायज है, तो ठीक है। वह काम कर सकता है। यह हरएक को समझना चाहिए। यह काम तो समुद्र जैसा है। उसको किसीका रूप मिलनेवाला नहीं है। जो नदी इसमें आयेगी, उसे समुद्र-रूप मिलेगा, उसका खारा पानी बनेगा। अच्छे उद्देश्य से

अगर कोई काम करे और उसका उद्देश्य उपयुक्त हो, तो वह उद्योग सफल होगा। इसलिए वे सब इसमें आ सकते हैं, ऐसा विश्वास कार्यकर्ताओं को होना चाहिए। इसीसे हमारी शुद्ध-शक्ति बढ़ेगी। किसी भी उद्देश्य से कोई आया हो, हमारे सम्पर्क में आकर उसका उद्देश्य ऊँचा होगा, यह श्रद्धा हमें रखनी चाहिए।

निराग्रह वृत्ति की आवश्यकता

कार्यकर्ताओं में छोटी-छोटी बातों में मतभेद होते हैं। हर मनुष्य को लगता है कि उसके मत से चलने से लाभ होगा, दूसरे के मत से चलने से लाभ नहीं होगा। लेकिन, जहाँ समूह में बैठना होता है, वहाँ अनुकूल ही वातावरण होना चाहिए। सबकी राय से ही निर्णय होना चाहिए। एक भी विरुद्ध नहीं होना चाहिए। यह नीति, न्याय और सत्य के खिलाफ हो, तभी विरोध करना चाहिए। नहीं तो एकमत से निर्णय लेना चाहिए। जहाँ सिद्धान्त का मतभेद है, वहा अपना आग्रह रख सकते हैं। लेकिन, सामान्य बातों में अति आग्रह रखना गलत है। हमने देखा है कि जो मनुष्य बार-बार पैसे खर्च करता है, आखिर उसकी सारी पूँजी खर्च हो जाती है। तो, आग्रह-शक्ति भी मनुष्य की पूँजी है। अगर वह छोटी-छोटी बातों में खर्च हो जाय, तो जहाँ सत्याग्रह का काम होगा, डटे रहने का मौका आयगा, तो वह शक्ति नहीं रहेगी। इसलिए छोटी-छोटी बातों में आग्रह-शक्ति खर्च न करें, तो बड़ी शक्ति रहेगी। हमने देखा है कि ऐसे लोग बड़े-बड़े मौके पर हार जाते हैं। इसलिए हमने यह दृष्टान्त दिया है कि आग्रह की शक्ति हमें खर्च नहीं करनी चाहिए। सामाजिक काम करने हैं, तो हममें निराग्रह की वृत्ति रहनी चाहिए।

नेकुड़सेनी,
मेदिनीपुर (बंगाल)
२४-१-'५५

सत्य : आध्यात्मिक साधना की पहली शर्त : ६ :

आज आशा देवी ने सुझाया है कि आध्यात्मिक साधना कहाँ से आरम्भ हो और प्राथमिक महत्त्व किस चीज को दिया जाय, इस बारे में मैं कुछ कहूँ। इस प्रश्न का उत्तर तो अलग-अलग प्रकार से दिया जा सकता है। सबके लिए एक ही उत्तर नहीं हो सकेगा। जो हो सकेगा, वह मैं पीछे बताऊँगा।

आत्म-परीक्षण

आरम्भ में मैं यह कहना चाहता हूँ कि हरएक को अपने मन का परीक्षण करना चाहिए। हममें किन गुणों की न्यूनता है या किन दोषों का प्रभाव हमारे चित्त पर ज्यादा है, यह हमें देखना होगा। शरीर की प्रकृति की चिकित्सा होती है और फिर उसके बाद निर्णय दिया जाता है कि इस शरीर में यह कमी ह या फलाना रोग है। तब उस कमी की पूर्ति के लिए कार्य करना होता है। वैद्य वह काम करता है। वैसे ही अपने मन के दोष और न्यूनताएँ क्या हैं, यह हर मनुष्य देखे। इस काम में दूसरों की, मित्रों की भी मदद हो सकती है। परन्तु निर्णय का काम तो उस मनुष्य का खुद का होगा। जो न्यूनताएँ दीख पड़ेंगी, उनका निवारण करना ही उसकी साधना का पहला कदम होगा।

मान लीजिये, अपने में अहंकार दीख पड़ा, तो उसके त्याग के लिए जो साधना जरूरी है, वह करनी होगी। अगर अपने में क्रोध की मात्रा अधिक दीख पड़ी, तो दया, क्षमा आदि के प्रसंग अधिक प्राप्त हों, ऐसी कोशिश करनी चाहिए और दया, क्षमा आदि गुणों का ध्यान करना चाहिए। इसलिए सबके लिए इस प्रश्न का एक ही उत्तर नहीं हो सकता। परन्तु सर्वसाधारण में कुछ खामियाँ होती हैं। इसलिए एक साधारण धर्म बन जाता है और एक साधारण

उपदेश दिया जाता है। परन्तु, जिस भक्त का जो लक्षण होता है, उसके अनुसार वह काम करता है। जिसको जो बात जँचती है, उस दृष्टि से वह उस उपासना को स्वीकार करता है। मैंने 'उपासना' शब्द का प्रयोग किया है। उपासना में गुण का विकास आता है। अगर हममें क्रोध है, तो हमें दया-गुण का विकास करने की कोशिश करनी चाहिए।

त्रिविध कार्यक्रम

यह त्रिविध कार्य है: (१) अगर हममें क्रोध अधिक है, तो दयालु स्वरूप में हमें ईश्वर की उपासना करनी चाहिए। जैसे, इसलाम में ईश्वर को 'रहीम' और 'रहमान' कहा गया है, उस रूप की उपासना करनी होगी। ईश्वर के तो अनन्त गुण होते हैं; लेकिन हममें उस गुण की कमी है। इसलिए हम 'रहीम' की उपासना करते हैं। इसी तरह अगर हममें निर्दयता हो, तो हमें दयालु परमेश्वर की उपासना करनी होगी। और अगर हममें सत्य की कमी हो, तो हमें सत्यमय परमेश्वर की उपासना करनी होगी। (२) सृष्टि का निरीक्षण करें। यह निरीक्षण हम इस ढंग से करें कि सृष्टि में जो दया दीखती है, उसका चिन्तन हो। इस तरह अपने में जिस गुण की न्यूनता है, उसके विकास के लिए सष्टि की मदद ली जाय। इसको 'सांख्य' कहते हैं। परमेश्वर ने सृष्टि में दया की क्या योजना की है, इस दृष्टि से सृष्टि का निरीक्षण करें। इसे ज्ञान-मार्ग कहते हैं। ईश्वर ने सृष्टि में जो प्रेम-योजना की है, उसका चिन्तन करें। (३) अपने में वह गुण लाने की कोशिश करें। इसे कर्म-योग कहते हैं। इस तरह त्रिविध कार्यक्रम होगा।

उपासना के विभिन्न मार्ग

कुछ सम्प्रदाय प्रेम पर जोर देते हैं। जैसे, ईसामसीह ने कहा था, "गॉड इज लव", प्रेम ही परमेश्वर है। इसलाम ने कहा है, परमे-

श्वर 'रहीम' और 'रहमान' है। उपनिषदों ने कहा, "सत्यं ज्ञानं मन्तव्यम्"। इस तरह उपनिषदों ने सत्य पर जोर दिया। बापू ने सत्य और अहिंसा पर जोर दिया। उन्होंने कहा कि सत्य और अहिंसा को एक ही समझो। तो, इस तरह उपासना के भिन्न-भिन्न मार्ग माने जाते हैं। अक्सर मनुष्य में लोभ की मात्रा अधिक होती है। इसलिए दान का उपदेश चलता है और परमेश्वर की जो उदारता है, उसका चिन्तन करने के लिए कहा जाता है। इसी तरह मनुष्य में क्रोध हो, तो उसे परमेश्वर की दया का चिन्तन करना चाहिए। उसमें काम की मात्रा अधिक हो, तो उसे संयम की साधना करनी चाहिए और परमेश्वर की योजना में किस तरह कानून बने हैं, कैसे नियमन होता है, इसका मनन करना चाहिए। इस तरह काम, क्रोध, लोभ आदि से मुक्त होने की जो सर्वसाधारण दृष्टि है, वह मैंने आपके सामने रखी।

मुख्य दोष---असत्य

लेकिन, अपनी दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्व मैं जिस चीज को देता हूँ और सबके लिए जो चीज अत्यन्त जरूरी है, ऐसा मुझको लगता है, वह मैं अभी आपके सामने रखूँगा। हीरालाल शास्त्री* हमसे मिलने आये थे। उनसे हमारी पन्द्रह दिन तक रोज चर्चा चलती थी। उनसे मैंने यह बात छेड़ी थी। मैंने कहा था कि आज जो सामाजिक मूल्य चलते हैं, उनमें बड़ा भारी फर्क करने की जरूरत है। आज कुछ महापातक माने जाते हैं, जैसे, सुवर्ण की चोरी करना, शराब पीना, व्यभिचार करना, खून करना इत्यादि। इन सबकी महापातकों में गणना होती है और बाकी के सब उपपातक माने जाते हैं। लेकिन, हमें लगता है कि हमारी साधना तब तक आगे नहीं बढ़ेगी, जब तक हम यह नहीं समझेंगे कि दुनिया में कुल जितने दोष होते हैं,

---

* राजस्थान के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री

जैसे, खून, व्यभिचार आदि, जिन्हें दुनिया बहुत बड़ा दोष मानती है, वे सब दोष गौण हैं और मुख्य दोष है—"असत्य"। असत्य ही एक नैतिक दोष है और बाकी के सारे व्यावहारिक दोष हैं। अगर यह वृत्ति समाज में स्थिर हो जाय, तो हम आज की झंझटों से मुक्त हो सकेंगे।

मानसिक रोग

मान लीजिये कि कोई आदमी बीमार पड़ता है। वह उस बीमारी को प्रकट करता है, छिपाता नहीं है, क्योंकि प्रकट करने से रोग डॉक्टर की समझ में आता है और फिर डॉक्टर की उसे मदद मिल सकती है, जिससे कि उसे बीमारी से मुक्ति मिल सकती है। इसलिए वह अपनी बीमारी को छिपाता नहीं है। परन्तु किसीने अगर कोई गलत काम किया, जिसकी दुनिया में निन्दा होती है, तो वह उस काम को छिपाता है। इस तरह मनुष्य अपनी मानसिक बुराइयों को छिपाता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसके निवारण का रास्ता उसे नहीं मिलता और उसमें से दूसरे की मदद भी नहीं मिलती। इसलिए हम चाहते हैं कि समाज में यह विचार पैठ जाय कि जितने पाप माने जाते हैं, वे सब शरीर के स्थूल रोगों के समान ही मानसिक रोग हैं।

रोगी—दया का पात्र

हम रोगी से घृणा नहीं करते, बल्कि उसकी ओर दया की निगाह से देखते हैं; यद्यपि यह जाहिर है कि मनुष्य को जो बहुत-से रोग होते हैं, वे दोषों के कारण ही होते हैं। सारे रोग ऐसे ही होते हैं, यह तो मैं नहीं कहूँगा। क्योंकि, ऐसी निरपवाद बात नहीं कही जा सकती। कुछ ऐसे भी रोग हो सकते हैं, जो मनुष्य के दोषों के कारण नहीं होते। लेकिन, मैं अपनी बात कहूँगा। बिलकुल बचपन की तो नहीं, क्योंकि उस समय के बारे में मैं नहीं जानता। लेकिन जब से मुझे ज्ञान हुआ, उसके बाद की बात करता हूँ। तब से मैंने देखा है कि मुझे जो रोग हुए हैं, वे सब मेरे दोषों के ही कारण हुए हैं।

कोई रोग हुआ, तो सोचने पर मुझे मालूम हो जाता है कि वह अमुक दोष के कारण हुआ। मुझे तो जब तक दोष मालूम नहीं होता, तब तक मैं चैन नहीं लेता और सोचने पर कोई-न-कोई दोष मिल ही जाता है। बर्ताव में जो कुछ अव्यवस्था थी, वह दीख जाती है। इसलिए रोग के लिए रोगी ही जिम्मेवार होता है। लेकिन, फिर भी हम उसे दोषी नहीं समझते, बल्कि दया का पात्र ही समझते हैं।

घृणा का दुष्परिणाम

अस्पताल में किसी रोगी को भरती किया जाता है, तो उसका गम्भीर रोग होने पर भी वहाँ के सब लोग उसकी ओर घृणा की दृष्टि से नहीं, बल्कि दया की दृष्टि से ही देखते हैं और मानते हैं कि हमें इसकी सेवा करनी है। साथ ही वह भी अपना रोग छिपाता नहीं है। वैसा ही हम चाहते हैं कि मानसिक बुराइयों के बारे में भी हो। जहाँ जरूरत न हो, वहाँ पर उन्हें प्रकट न किया जाय। आज तो आम जनता के सामने उन्हें प्रकट करने की प्रेरणा मनुष्य को नहीं होती। मनुष्य को वह हिम्मत नहीं होती। क्योंकि, आज समाज में उसकी निन्दा होती है और उन बुराइयों की ओर घृणा की निगाह से देखा जाता है। कुछ रोगों की ओर घृणा की निगाह से देखा जाता है, तो मनुष्य उन रोगों को छिपाने की कोशिश करता है। जैसे—कोढ़। मेरे पेट में अल्सर है, तो मैं उसको छिपाता नहीं, उसे प्रकट करता हूँ। लेकिन, किसीको कोढ़ हुआ, तो वह उसे छिपाने की कोशिश करता है। इससे उसका रोग दुरुस्त नहीं हो सकता। ऐसा इसलिए होता है कि समाज उस रोग के प्रति घृणा की निगाह से देखता है। लेकिन उसका परिणाम यह होता है कि उस मनुष्य का रोग बढ़ता जाता है और वह मनुष्य सबके साथ समाज में खुलेआम व्यवहार करता है। इसलिए उसका रोग दूसरों को भी लगने का खतरा रहता है। तो, इसमें सब तरह से खतरा है।

मूल्य बदलना जरूरी

उसी प्रकार आज समाज में मानसिक दोषों के प्रति घृणा है, इसलिए मनुष्य उन्हें प्रकट नहीं करता। होना तो यह चाहिए कि आज समाज में जितने भी दोष गिने जाते हैं---शराब पीना, व्यभिचार करना आदि, वे सब मामूली दोष हैं और नैतिक दोष एक ही है--- छिपाना, 'असत्य'। अगर यह मूल्य स्थापित हो जाय, तो समाज जल्दी सुधरेगा। इसलिए, सत्य और अहिंसा में फर्क किया जाता है। विशेष हालत में किसीने हिंसा कर डाली, तो उसका वह दोष होगा, परन्तु असत्य ही तो मूल नैतिक दोष है और बाकी के सारे शारीरिक या मानसिक दोष हैं, यह मूल्य समाज में स्थिर होना चाहिए।

दोष प्रकट करें

इसलिए मैं चाहता हूँ कि हमको बेखटके अपने दोषों को प्रकट करना चाहिए। कुछ लोगों को भय लगता है कि इससे तो दोष बढ़ेंगे और तभी वे कहते हैं कि लोक-निन्दा की जरूरत है। इसीलिए लोक-निन्दा को विकसित किया गया है। लेकिन, आज उस पर इतना जोर दिया गया है कि उससे कुछ दोष तो कम हो सकते हैं, पर उनके पीछे असत्य फैलता है। असत्य बहुत बड़ा दोष है। इस तरह छोटे दोषों के बदले में कोई बड़ा दोष आये, तो खतरा पैदा होता है। आज बच्चे अपना अपराध छिपाते हैं। लेकिन अगर उन्हें तालीम दी जाय कि अपराध छिपाना ही सबसे बड़ा अपराध है, सबसे बड़ा दोष है, तो वे ऐसा नहीं करेंगे। इन दोषों की तरफ देखने की समाज की आज जो दृष्टि है, वह बदलेगी और आज हम जिन दोषों को भयानक पाप मानते हैं, उनको वैसा न मानें, तो उन पापों से समाज की मुक्ति हो सकती है। लेकिन, उनके छिपाने से तो हम मुक्ति का रास्ता ही बन्द कर देते हैं। इसलिए सबसे प्रधान मूल्य सत्य है। आध्यात्मिक दृष्टि से सोचनेवाले के लिए वही मुख्य वस्तु है।

सत्य बुनियादी गुण

महापुरुषों में कई दोष होते हैं। हमने सुना है कि ऋषि क्रोध करते थे। लेकिन, कोई झूठा हो और फिर भी वह सत्पुरुष हो, ऐसा नहीं हो सकता। सत्य तो बुनियादी चीज है। प्राचीनकाल से आज तक इसे महत्त्व दिया गया है और इसे बुनियादी चीज माना गया है। लेकिन, बुनियादी चीज मानने का मतलब, महत्त्व देना भी होता है। और बुनियादी माने मामूली चीज, ऐसा भी एक अर्थ माना जाता है। जैसे, बुनियादी शाला याने प्राथमिक शाला। उसी दृष्टि से सत्य को बुनियादी गुण मानते हैं और समझते हैं कि वह तो मामूली गुण है, पहले दर्जे का गुण है, कॉलेज का गुण नहीं है। इसलिए जो लोग असत्य को अपने जीवन में स्थान देते हैं, जिनका सारा व्यवहार असत्य पर खड़ा है, वे भी यह चाहते हैं कि अपने बच्चों को स्कूलों में सत्य ही सिखाया जाय, असत्य नहीं। क्योंकि सत्य तो बचपन का गुण है, ऐसा वे मानते हैं। शायद वे यह भी सोचते होंगे कि बच्चे कॉलेज में जाने पर असत्य सीख लेंगे। परन्तु प्राथमिक शाला में तो सत्य चाहिए ही, ऐसा उन्होंने माना है। इस तरह से अभी हमने सत्य केवल बच्चों के लिए, संन्यासियों के लिए ही रखा है। बाकी सबके लिए अपवाद रखे हैं। ये अपवाद इतने ज्यादा हैं कि संस्कृत व्याकरण में जैसे नियम से भी ज्यादा अपवाद होते हैं और उनकी लम्बी फिहरिस्त बनती है, उसी तरह सत्य का कब उपयोग नहीं करना, इसकी लम्बी फिहरिस्त बन जाती है। राजनीति में, व्यापार में, अदालत में और शादी में भी असत्य चलता है और यह भी दलील पेश की जाती है कि उसे असत्य ही न कहा जाय। याने ये लोग असत्य की व्याख्या ही बदलना चाहते हैं!

सत्य ही एकमात्र साधना

सत्य को Elementary (मौलिक) गुण माना गया है, इतना ही बस नहीं है। वही एक नैतिक तत्त्व है और बाकी के सारे नैतिक

गुण नहीं हैं, सामान्य गुण या दोष हैं, यह विचार नीतिशास्त्र में रूढ़ हो जाय, तो समाज में सुधार होगा और आध्यात्मिक साधना में उससे मदद मिलेगी। जहाँ मनुष्य सत्य को छिपाता है, वहाँ दंड से बचने के लिए छिपाता है। उसका छिपाना भी कुशलता मानी जाती है। इसलिए हम चाहते हैं कि दोषों के लिए दंड ही न होना चाहिए। दोषों की दुरुस्ती होनी चाहिए। कोई बीमार पड़ता है, तो हम उसे सजा थोड़े ही देते हैं। हाँ, उसे उपवास करने के लिए कहते हैं, कड़वी दवा पिलाते हैं और कभी-कभी ऑपरेशन भी करते हैं। अगर इन्हींको दंड कहना हो, तो कहिये। परन्तु यह तो 'ट्रीटमेंट' है, उपचार है, सेवा है। इसलिए समाज में जितनी बुराइयाँ हैं, उन सबके लिए उपचार ही होना चाहिए, दंड नहीं। यह बात समाज में रूढ़ हो जाय, तो आसानी से मन दुरुस्त हो सकता है और समाज बदल सकता है। कुछ लोगों को इसमें खतरा मालूम होता है। वे कहते हैं कि अगर यह दंडवाली व्यवस्था मिट जायगी, तो मनुष्यों के दोष खुले आम फैलेंगे। लेकिन, यह विचार गलत है। आज दंड देकर सब दोषों को दबाने की, छिपाने की प्रवृत्ति बढ़ी है। उससे अन्तःशुद्धि नहीं होती और परिणाम-स्वरूप बुराइयाँ फैलती हैं। इसलिए मेरी यह मान्यता है कि सब लोगों को और खासकर आध्यात्मिक साधना करनेवालों को तो सत्य को कभी छिपाना ही नहीं चाहिए। यही सर्वोत्तम साधना होगी। यही प्राथमिक, बीच की और आखिरी साधना होगी। यही एकमात्र साधना होगी।

उपनिषदों में कवि कहता है :

> हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखम्।
> तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

"सत्य का मुख हिरण्यमय पात्र से ढँका हुआ है। मैं सत्य-धर्मा हूँ, इसलिए हे प्रभु, वह असत्य का परदा दूर कर दो!"

आरम्भ कहाँ से हो ?

इसलिए यही सर्वोत्तम या सर्वप्रथम साधना है। इसका आरम्भ स्कूल से और घर से हो। आज तो यह होता है कि लड़के माता-पिता से अपने दोष छिपाते हैं और मित्रों में प्रकट करते हैं। कितने आश्चर्य की बात है कि जो माता-पिता उन पर इतना प्यार करते हैं, उनके लिए त्याग करते हैं, उनकी सेवा करते हैं, उन्हींसे बात छिपाने की प्रवृत्ति बच्चों में होती है और जिनके साथ वे खेलतेभर हैं, उन मित्रों के सामने दिल खोलकर वे प्रकट कर देते हैं। वे बचानेवाले तो नहीं होते, वे तो खेलनेवाले होते हैं। फिर भी माता-पिता के पास प्रकट नहीं करते, क्योंकि माता-पिता ने कभी उनको पीटा होगा, डराया होगा, धमकाया होगा।

बच्चे जानते हैं कि माता-पिता उन पर अत्यन्त प्यार करते हैं। लेकिन, यह जानते हुए भी बच्चे उनसे बात छिपाते हैं। जहाँ बच्चे माता-पिता से बात छिपाते हैं, वहाँ वे सबसे छिपायेंगे। क्योंकि, सबसे अधिक हम अपनी बात अगर किसीके पास खोल सकते हैं, तो माता-पिता के ही पास। माता-पिता जितने प्रेममय होते हैं, समाज में दूसरे लोग उतने प्रेममय नहीं होते। इसलिए जो लड़का माता-पिता से बात छिपायेगा, वह सारी दुनिया से छिपायेगा। कभी-कभी ऐसे लड़के मित्र के सामने बात प्रकट करते हैं, लेकिन वह अज्ञानवश होता है। अगर उनको मालूम हो जाय कि वे मित्र उनकी निन्दा करते हैं, तो फिर वे मित्रों के सामने भी उसे प्रकट नहीं करेंगे। इसलिए सत्य का आरम्भ स्कूल से और घर से होना चाहिए। स्कूल में भी दंड देना, ताड़न करना नहीं होना चाहिए।

अगर किसीसे कोई दोष हुआ, तो कुछ हुआ ही नहीं, ऐसा मानना चाहिए। किसीकी नाक गन्दी है, तो हम उसे साफ करते हैं, उसको दोषी नहीं मानते। कोई बीमार हुआ, तो हम कहते हैं कि दो रोज

मत खाओ। वैसे ही किसीसे दोष हुआ, तो कुछ भी नहीं हुआ, ऐसा मानना चाहिए और उससे कहना चाहिए कि दुबारा ऐसा मत करो। इस तरह की उदार वृत्ति रहनी चाहिए। उस दोष से क्या नुकसान होता है, यह उसे समझाना चाहिए। जैसे, रोग-विज्ञान में मनुष्य को रोग हुआ, तो हम उसे समझाते हैं कि कौनसा रोग है, तो फिर वह बच जाता है। इस तरह घर में, शिक्षा में, नीतिशास्त्र में और अध्यात्म में सत्य होना ही चाहिए। नीतिशास्त्र और अध्यात्म, दूसरे पचासों गुणों पर जोर दें या न दें, परन्तु उनको यह कहना चाहिए कि सत्य ही मुख्य वस्तु है।

सत्य क्या है ?

कभी-कभी सत्य की व्याख्या क्या है, ऐसा सवाल पूछा जाता है। लेकिन यह पूछना ही गलत है। एक दफा एक भाई ने पूछा कि सत्य क्या है ? मैंने कहा कि सत्य है खजूर। उसने समझा कि मैं विनोद कर रहा हूँ। फिर मैंने कहा कि अगर आपको लगता है कि सत्य खजूर नहीं है, तो सत्य बादाम समझो। वह बात भी उसको नहीं जँची। तो मैंने उससे कहा कि सत्य क्या चीज है, यह आपको मालूम है, ऐसा दीखता है। क्योंकि, मैं जिस-जिस चीज का नाम लेता हूँ, वह आपको जँचती नहीं है। तो फिर आप ही बताइये कि सत्य क्या है ? फिर उसके अनुसार मैं व्याख्या करूँगा ·····। सत्य की व्याख्या भी सत्य की कसौटी पर कसी जायगी। सत्य की कोई व्याख्या नहीं हो सकती। सत्य स्वयं स्पष्ट है। इतना स्पष्ट दूसरा कोई तत्त्व दुनिया में नहीं है। अहिंसा किसे कहा जाय, इसकी व्याख्या करने जाओ, तो काफी तकलीफ होती है। लेकिन, सत्य के साथ वह बात नहीं है।

गीता ने कहा है कि असुरों में सत्य भी नहीं होता है। याने, सत्य ऐसा गुण है कि बच्चा भी उसे समझ सकता है। परन्तु बच्चे को जब हम सिखाते हैं कि सत्य बोलो, तभी वह असत्य क्या चीज है, यह

सीख जाता है। क्योंकि, वह पूछता है कि सत्य बोलना याने क्या ? तब उसे असत्य का परिचय करना पड़ता है। इतना स्वयं स्पष्ट है सत्य। परन्तु हम उसको दबाने की कोशिश करते हैं। व्यापार, व्यवहार, हर जगह असत्य की जरूरत है, ऐसा कहा जाता है। याने, किस चीज को महत्त्व देना और किस चीज को गौण मानना, यह हम जानते ही नहीं। इसलिए अपनी दृष्टि से तो मैं यही कहूँगा कि आध्यात्मिक और व्यावहारिक, दोनों दृष्टियों से सत्य को प्रधान स्थान देना चाहिए। हमारे लिए सर्वप्रथम वस्तु सत्य ही है। हमें उसीकी उपासना करनी चाहिए।

सत्य और निर्भयता

सत्य की पूर्ति में दूसरे गुण आते हैं। लेकिन, आज ऐसा नहीं होता है। क्योंकि, हम अपने दोष प्रकट करते हैं, तो समाज में निन्दा होती है। उस निन्दा को सहन करने की हिम्मत हममें होनी चाहिए। इसलिए सत्य-रक्षा के लिए निर्भयता की जरूरत महसूस होती है। जो कुछ होना है, होने दो; कोई हमारी कितनी भी निन्दा करे, हम सत्य ही बोलेंगे, ऐसा निश्चय करने की जरूरत आज पड़ती है। परन्तु वास्तव में सत्य तो स्वाभाविक है। आज समाज की हालत उल्टी है, इसलिए सत्य के वास्ते निर्भयता की जरूरत पड़ती है। तभी तो नाहक निर्भयता का महत्त्व बढ़ गया है। नाहक कहो या उचित कहो, पर आज बिना निर्भयता के सत्य प्रकट नहीं कर सकते। इसलिए निर्भयता को महत्त्व देना पड़ता है। बापू ने भी उसे महत्त्व दिया था और गीता ने तो अभय को सब गुणों का सेनापति बनाया है। परन्तु बारीकी से देखा जाय, तो अभय सत्य की रक्षा के लिए एक युक्ति ही है। अभय के बिना सत्य की रक्षा नहीं हो सकती, इसलिए अभय को स्थान मिला। समाज की आज जो हालत है, वह यदि न होती, तो अभय को इतना महत्त्व का स्थान न मिलता।

भय और अभय

वस्तुतः जीवन में भय और अभय, दोनों की जरूरत होती है। सिर्फ अभय ही अभय चले, तो मूर्खता होगी। अगर कहीं साँप पड़ा है और उससे हम डरें नहीं, तो वह गलत होगा। जहाँ डरने की जरूरत है, वहाँ डरना चाहिए और जहाँ डरने की जरूरत नहीं है, वहाँ नहीं डरना चाहिए। रेल आयी और हम पटरी पर से चल रहे हैं और डरते नहीं हैं, तो वह मूर्खता होगी। इसलिए कुछ जगहों पर भय की भी जरूरत होती है और बच्चों को इस तरह का जो भय सिखाया जायगा, वह ज्ञान ही होगा। ज्यादा खाओगे, तो तकलीफ होगी, अग्नि पर पाँव रखोगे, तो पाँव जल जायगा, बाढ़ में जाओगे, तो डूब जाओगे, यह सब सिखाना ज्ञान की प्रक्रिया ही है। इसलिए उस प्रक्रिया में यह भी होता है कि कौनसे काम करने से खतरा पैदा होगा, यह सब सिखाना चाहिए। वह डर भी ज्ञान-स्वरूप है। इस दृष्टि से सोचा जाय, तो भय और अभय, दोनों की जीवन में जरूरत होती है। गीता ने भी कहा है कि कहाँ डरना, कहाँ नहीं डरना, यह दोनों मालूम होना चाहिए।

सत्य ही सर्वप्रथम गुण

लेकिन, आज तो उल्टा होता है। माता-पिता से नहीं डरना चाहिए, पर बच्चे उन्हींसे डरते हैं। मूर्ख मित्रों से डरना चाहिए, पर बच्चे उनसे नहीं डरते और उनके पास अपने दिल की बात खोल देते हैं याने समाज में सब उल्टा ही चलता है। आज अभय को जो इतना सार्वभौम महत्त्व मिला है, उसका कारण यही है कि आज के समाज में उसके बिना सत्य की रक्षा नहीं हो सकती। अभय को सर्वप्रथम गुण माना तो गया है, परन्तु वास्तव में सत्य ही सर्वप्रथम गुण है।

दातन,
मेदिनीपुर (बंगाल)
२५-१-'५५

सेवक की प्रार्थना

हे नम्रता के सम्राट् !
दीन भंगी की हीन कुटिया के निवासी !
गंगा, यमुना और ब्रह्मपुत्रा के जलों से सिंचित
इस सुन्दर देश में
तुझे सब जगह खोजने में हमें मदद दे।
हमें ग्रहणशीलता और खुला दिल दे;
तेरी अपनी नम्रता दे;
हिन्दुस्तान की जनता से
एकरूप होने की शक्ति और उत्कंठा दे।
हे भगवन् !
तू तभी मदद के लिए आता है,
जब मनुष्य शून्य बनकर, तेरी शरण लेता है।
हमें वरदान दे—
कि सेवक और मित्र के नाते
जिस जनता की हम सेवा करना चाहते हैं,
उससे कभी अलग न पड़ जायँ।
हमें त्याग, भक्ति और नम्रता की मूर्ति बना,
ताकि,—इस देश को हम ज्यादा समझें
और ज्यादा चाहें।

—गांधीजी

सायंकालीन प्रार्थना

यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैर्
वेदैः सांगपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥

स्थितप्रज्ञ के लक्षण

अर्जुन ने कहा—

स्थितप्रज्ञ समाधिस्थ कहते कृष्ण हैं किसे।
स्थितधी बोलता कैसे, बैठता और डोलता॥ १॥

श्री भगवान् ने कहा—

मनोगत सभी काम तज दे जब पार्थ जो।
आपमें आप हो तुष्ट, सो स्थितप्रज्ञ है तभी॥ २॥
दुःख में जो अनुद्विग्न, सुख में नित्य निःस्पृह।
वीत-राग-भय-क्रोध, मुनि है स्थितधी वही॥ ३॥
जो शुभाशुभ को पाके न तो तुष्ट न रुष्ट है।
सर्वत्र अनभिस्नेही, प्रज्ञा है उसकी स्थिरा॥ ४॥
कूर्म ज्यों निज अंगों को, इन्द्रियों को समेट ले।
सवशः विषयों से जो, प्रज्ञा है उसकी स्थिरा॥ ५॥
भोग तो छूट जाते हैं निराहारी मनुष्य के।
रस किन्तु नहीं जाता, जाता है आत्म-लाभ से॥ ६॥
यत्नयुक्त सुधी की भी इन्द्रियाँ ये प्रमत्त जो।
मन को हर लेती हैं अपने बल से हठात्॥ ७॥

इन्हें संयम से रोके, मुझीमें रत, युक्त हो।
इन्द्रियाँ जिसने जीतीं, प्रज्ञा है उसकी स्थिरा ॥ ८ ॥
भोग-चिन्तन होने से होता उत्पन्न संग है।
संग से काम होता है, काम से क्रोध भारत ॥ ९ ॥
क्रोध से मोह होता है, मोह से स्मृतिविभ्रम।
उससे बुद्धि का नाश, बुद्धिनाश विनाश है ॥ १० ॥
राग-द्वेष-परित्यागी करे इन्द्रिय-कार्य जो।
स्वाधीन वृत्ति से पार्थ, पाता आत्म-प्रसाद सो ॥ ११ ॥
प्रसाद-युत होने से छूटते सब दुःख हैं।
होती प्रसन्नचेता की बुद्धि सुस्थिर शीघ्र ही ॥ १२ ॥
नहीं बुद्धि अयोगी के, भावना उसमें कहाँ।
अभावन कहाँ शान्त, कैसे सुख अशान्त को ॥ १३ ॥
मन जो दौड़ता पीछे इन्द्रियों के विहार में।
खींचता जन की प्रज्ञा, जल में नाव वायु ज्यों ॥ १४ ॥
अतएव महाबाहो, इन्द्रियों को समेट ले।
सर्वथा विषयों से जो, प्रज्ञा है उसकी स्थिरा ॥ १५ ॥
निशा जो सर्व भूतों की, संयमी जागते वहाँ।
जागते जिसमें अन्य, वह तत्त्वज्ञ की निशा ॥ १६ ॥
नदी-नदों से भरता हुआ भी, समुद्र है ज्यों स्थिर सुप्रतिष्ठ।
त्यों काम सारे जिसमें समावें, पाता वही शांति, न काम-कामी ॥१७॥
सर्व-काम परित्यागी, विचरे नर निःस्पृह।
अहंता-ममता-मुक्त, पाता परम शान्ति सो ॥ १८ ॥
ब्राह्मीस्थिति यही पार्थ, इसे पाके न मोह है।
टिकती अन्त में भी है ब्रह्मनिर्वाणदायिनी ॥ १९ ॥*

* सायंकालीन प्रार्थना में स्थितप्रज्ञ-लक्षण के बाद और प्रातःकालीन प्रार्थना में ईशावास्योपनिषद् के बाद नाम-माला, नामधुन और एकादश व्रत का पाठ होता है।

प्रातःकालीन प्रार्थना

ईशावास्योपनिषद्

ॐ पूर्ण है वह, पूर्ण है यह,
पूर्ण से निष्पन्न होता पूर्ण है।
पूर्ण में से पूर्ण को यदि लें निकाल
शेष तब भी पूर्ण ही रहता सदा।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

हरिः ॐ ईश का आवास यह सारा जगत्,
जीवन यहाँ जो कुछ उसीसे व्याप्त है।
अतएव करके त्याग उसके नाम से
तू भोगता जा वह तुझे जो प्राप्त है।
धन की किसीके भी न रख तू वासना ॥ १ ॥
करते हुए ही कर्म इस संसार में
शत वर्ष का जीवन हमारा इष्ट हो।
तुझ देहधारी के लिए पथ एक यह,
अतिरिक्त इससे दूसरा पथ है नहीं।
होता नहीं है लिप्त मानव कर्म से,
उससे चिकटती मात्र फल की वासना ॥ २ ॥
मानी गयी हैं योनियाँ जो आसुरी,
छाया हुआ जिनमें तिमिर घनघोर है,
मुड़ते उन्हींकी ओर मरकर वे मनुज,
जो आत्मघातक शत्रु आत्मज्ञान के ॥ ३ ॥
चलता नहीं, फिरता नहीं, है एक ही
वह आत्मतत्त्व सवेग मन से भी अधिक,

उसको कहीं भी देव धर पाते नहीं,
उनको कभी का वह स्वयं ही है धरे।
वह उन सभीको, दौड़ते जो जा रहे,
ठहरा हुआ भी छोड़ पीछे ही गया।
वह "है", तभी तो संचरित है प्राण यह,
जो कर रहा क्रीड़ा प्रकृति की गोद में॥ ४ ॥
वह चल रहा है और वह चलता नहीं,
वह दूर है, फिर भी निरन्तर पास ह।
भीतर सभीके बस रहा सर्वत्र ही,
बाहर सभीके है तदपि वह सर्वदा॥ ५ ॥
जब जो निरन्तर देखता है, भूत सब
आत्मस्थ ही हैं और आत्मा दीखता
सम्पूर्ण भूतों में जिसे, तब वह पुरुष
ऊबा किसीके प्रति नहीं रहता कहीं॥ ६ ॥
ये सर्वभूत हुए जिसे हैं आत्ममय,
एकत्व का दर्शन निरन्तर जो करे,
तब उस दशा में उस सुधीजन के लिए
कैसा कहाँ क्या मोह, कैसा शोक क्या ?॥ ७ ॥
सब ओर आत्मा घेरकर आत्मज्ञ सो
है बैठ जाता, प्राप्त कर लेता उसे—
जो तेज से परिपूर्ण है, अशरीर है,
यों मुक्त है तनु के व्रणादिक दोष से,
त्यों स्नायु आदिक देहगुण से भी रहित—
जो शुद्ध है, बेधा नहीं अघ ने जिसे।
वह क्रान्तदर्शी, कवि, वशी, व्यापक, स्वतन्त्र
सब अर्थ उसके सध गये हैं ठीक से,
सुस्थिर रहेंगे जो चिरन्तन काल में॥ ८ ॥

जो जन अविद्या में निरन्तर मग्न हैं,
वे डूब जाते हैं घने तमसान्ध में।
जो मनुज विद्या में सदा रममाण हैं,
वे और घन तमसान्ध में मानो धँसे॥ ९ ॥

वह आत्मतत्त्व विभिन्न विद्या से कथित,
एवं अविद्या से कथित है भिन्न वह।
यह तथ्य हमने धीर पुरुषों से सुना,
जिनसे हुआ उस तत्त्व का दर्शन हमें॥ १० ॥

विद्या, अविद्या—इन उभय के साथ में
हैं जानते जो मनुज आत्मज्ञान को,
इसके सहारे तर अविद्या से मरण
वे प्राप्त विद्या से अमृत करते सदा॥ ११ ॥

जो मनुज करते हैं निरोध-उपासना,
वे डूब जाते हैं घने तमसान्ध में।
जो जन सदैव विकास में रममाण हैं,
वे और घन तमसान्ध में मानो धँसे॥ १२ ॥

वह आत्मतत्त्व विकास से है भिन्न ही
कहते उसे एवं विभिन्न निरोध से।
यह तथ्य हमने धीर पुरुषों से सुना,
जिनसे हुआ उस तत्त्व का दर्शन हमें॥ १३ ॥

ये जो विकास-निरोध,—इन दो के सहित
हैं जानते जो मनुज आत्मज्ञान को,
इसके सहारे मरण पैर निरोध से
पाते सदैव विकास के द्वारा अमृत॥ १४ ॥

मुख आवरित है सत्य का उस पात्र से
जो हेममय है, विश्व-पोषक हे प्रभो,

मुझ सत्यधर्मा के लिए वह आवरण
तू दूर कर, जिससे कि दर्शन कर सकूँ ॥ १५ ॥

तू विश्वपोषक है तथा तू ही निरीक्षक एक है,
तू कर रहा नियमन तथा तू ही प्रवर्तन कर रहा,
पालन सभीका हो रहा तुझसे प्रजा की भाँति है।
निज पोषणादिक रश्मियाँ तू खोलकर मुझको दिखा,
फिर से दिखा एकत्र त्यों ही जोड़ करके तू उन्हें।
अब देखता रूप तेरा तेजयुत कल्याणतम,
वह जो परात्पर पुरुष है, मैं हूँ वही ॥ १६ ॥

यह प्राण उस चेतन अमृतमय तत्त्व में
हो जाय लीन, शरीर भस्मीभूत हो।
ले नाम ईश्वर का अरे संकल्पमय
तू स्मरण कर, उसका किया तू स्मरण कर,
संन्यस्त करके सर्वथा संकल्प निज
हे जीव मेरे, स्मरण करता रह उसे ॥ १७ ॥

हे मार्गदर्शक दीप्तिमन्त प्रभो, तुझे
हैं ज्ञात सारे तत्त्व जो जग में ग्रथित।
ले जा परम आनन्दमय की ओर तू
ऋजु मार्ग से, हमको कुटिल अघ से बचा।
फिर-फिर विनय नत नम्र वचनों से तुझे।
फिर-फिर विनय नत नम्र वचनों से तुझे ॥ १८ ॥

ॐ पूर्ण है वह, पूर्ण है यह,
पूर्ण से निष्पन्न होता पूर्ण है।
पूर्ण में से पूर्ण को यदि लें निकाल
शेष तब भी पूर्ण ही रहता सदा।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

एकादश व्रत

अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य असंग्रह।
शरीरश्रम अस्वाद सर्वत्र भयवर्जन॥
सर्वधर्म समानत्व स्वदेशी स्पर्शभावना।
विनम्र व्रत निष्ठा से ये एकादश सेव्य हैं॥

परिशिष्ट : ३

नाम-माला

ॐ तत् सत् श्री नारायण तू, पुरुषोत्तम गुरु तू,
सिद्ध बुद्ध तू, स्कन्द विनायक, सविता पावक तू।
ब्रह्म मज्द तू, यह्व शक्ति तू, ईशु-पिता प्रभु तू,
रुद्र-विष्णु तू, राम-कृष्ण तू, रहीम ताओ तू।
वासुदेव गो-विश्वरूप तू, चिदानन्द हरि तू,
अद्वितीय तू, अकाल निर्भय, आत्मलिंग शिव तू।

१

इन तीन श्लोकों में ३६ नामावली है। यह एक नयी चीज है। इसका आरंभ जान लेना चिंतन के लिए लाभदायी है।

मैं वर्षों से भिन्न-भिन्न संस्कृतियों की उपासना करता रहा हूँ। जिस समय जिस-जिस धर्म की उपासना की, उस समय उस-उस धर्म के खास-खास नामों का चिंतन करता रहा। कुरान में अल्लाह के अनेक नाम आते हैं, उन सबमें गुणवाचक 'रहमान' या 'रहीम' मुख्य है। वैसे ही चीनी तत्त्वज्ञान का मंथन करने पर "ताओ" शब्द मिलता है। स तरह कई धर्मों की और संस्कृतियों की उपासना समय-समय पर मेरे मन में चलती रही। लेकिन जब मैं हृषीकेश से हरिद्वार जा रहा था, तब रास्ते में काली कमलीवालों ने मुझे चंदन की एक मणि-माला

भेट दी। अक्सर इस तरह की माला का उपयोग मैंने बहुत कम किया है। तकली और चरखे ने मुझे माला का काम दिया है। उससे मेरी एकाग्रता तुरंत हो जाती है। फिर भी जब उन्होंने माला दे दी, तो रात को सोते वक्त मैं वह अपने पास रख लेता था। साथ-साथ कुछ चिंतन भी चलता रहा। उसके तीन श्लोक बन गये। परन्तु प्रभु के गुण अनंत हैं, इसलिए उसके नाम भी अनंत हैं। भक्तजनों को जो प्रिय हो गये हैं, उनमें से कुछ नाम चुन लिये हैं। इसकी खूबी यह है कि इसमें सभी धर्मों का समावेश हुआ है। हिंदू-धर्म के बहुत सारे पंथों का निर्देश भी हो गया है। सब मिलकर नाम-स्मरण का एक सुश्लिष्ट भजन बना है।

इस नाम-माला से मुझे समाधान हुआ है और यह अब मेरी सायं-प्रातरुपासना का भाग बन गया है।

२

ॐ तत् सत्—इन तीनों शब्दों में वेदों का सार आता है, भगवद्‌गीता के सत्रहवें अध्याय में इसका जिक्र आया है।

श्री—ॐ तत् सत् के बाद "श्री" पद है। "श्री" शब्द लक्ष्मी का वाचक है, याने श्रम का प्रतीक है। श्रम से होनेवाली पदावार "श्री" है। सृष्टि में सर्वत्र जो शोभा दिखाई देती है, उस सबका सूचन "श्री" से मिलता है। "सत् श्री" एक कर दें, तो सिक्खों का उपास्य मंत्र बन जाता है।

नारायण—नर-समुदाय का देवता है। वह सब भूतांतर्यामी है। परंतु विशेषतया मनुष्यों के लिए प्रयुक्त किया गया है।

पुरुषोत्तम—सब पुरुषों में उत्तम, राग-द्वेषरहित, जो आदर्श गीता के पन्द्रहवें अध्याय के अंत में बताया गया है।

गुरु—पंथ-प्रवर्तक; इसलाम, ईसाई-धर्म, सिक्ख, सब गुरु-पंथ हैं। क्योंकि ये धर्म विशिष्ट गुरु के नाम पर प्रचलित हुए हैं। हिंदू-धर्म में

भी गुरु-प्रथा है, यद्यपि हिंदू-धर्म गुरु-पंथ नहीं कहा जायगा। गुरु दत्तात्रेय का एक विशिष्ट संप्रदाय है। उसका भी स्मरण इसमें संग्रहीत है।

"नारायण, पुरुषोत्तम, गुरु" ये तीनों एकत्र करने से एक महान् आदर्श चिंतन के लिए मिलता है।

सिद्ध, बुद्ध—जो जान गया और जो जाग गया। इन दो शब्दों से यथानुक्रम जैन और बौद्ध आदर्शों का स्मरण हो जाता ह।

स्कन्द—दोष-स्कंदन, दोष-निर्दलन करनेवाला देवता, ब्रह्मचारी, कुमार, प्रसिद्ध देव-सेनानी।

विनायक—गणपति, समुदाय का देवता। किसी भी काम के आरंभ में विनायक-स्मरण याने गणपति-स्मरण किया जाता है। सबका जो विशेष नायक, वह विनायक।

सविता, पावक—प्रेरणा देनेवाला और पावन करनेवाला। सविता से सूर्य का स्मरण होता है, पावक से अग्नि का। सविता परमेश्वर-की कृपा है। अग्नि के निर्माण में हमारा भी हाथ है। पारसियों में अग्नि की तथा वैदिकों में सूर्य और अग्नि, दोनों की उपासना चलती है।

ब्रह्म—बृहत्, व्यापक तत्त्व, निर्गुण, निराकार, जिसमें से यह सारी सृष्टि अंकुरित होती है, जिसके आधार पर रहती है और जिसमें लीन होती है।

मज्द—अहुर मज्द। अहुर याने असुर। पारसियों में परमेश्वर की संज्ञा। वेदों में भी 'असुर' का अर्थ परमेश्वर होता है। 'मज्द' याने महान्।

यह्व—याने जुहोवा। यहूदियों का आराध्य देवता। यह भी मूलतः वैदिक शब्द है।

शक्ति—परमेश्वर के प्रेम-स्वरूप में उपासना करनेवाले "भक्त"

कहलाते हैं। वैसे समाज-रचना की चिंता करनेवाले "शाक्त" कहलाते हैं, जो ईश्वर की शक्ति-स्वरूप में उपासना करते हैं।

ईशु-पिता—परमेश्वर जगत्-पिता तो हैं ही, लेकिन विशेष अर्थ में वे भक्त-पिता हैं। भक्तों के प्रतिनिधि के तौर पर ईशू का नाम लिया है। ईशु-पिता में भक्त और भगवान्, दोनों का स्मरण होता है।

प्रभु—प्रभावशाली परमेश्वर, लोकस्वामी।

रुद्र—संसाररूपी पाशों में जकड़कर रुलानेवाला और कठिन साधना के बाद संसार-पाश से छुड़ानेवाला। संहार-देवता भी यह है।

विष्णु—विश्व का पालन करनेवाला विश्वव्यापक भगवान्।

"रुद्र-विष्णु" शैव और वैष्णव-भक्तों के उपास्य संकेत हैं।

राम-कृष्ण—सत्य और प्रेम के प्रतीक। राम-कृष्ण की सम्मिलित उपासना हमारे यहाँ सारे देश में चलती ही है।

रहीम—जो अत्यन्त दयामय है। शांतिपरायण इसलाम का स्मरण। अल्लाह का गुण-विशेषण।

ताओ—चीनी संत लाओत्से का परम मंत्र। "ताओ" याने परमात्मा, ज्ञानस्वरूप। मूल "तन्" धातु पर से हो सकता है। तन् पर से 'ताय' और 'तायी' शब्द संस्कृत-साहित्य में आते हैं। गौड़पाद की कारिका में उसका उल्लेख है। उससे मिलता-जुलता यह चीनी शब्द है। चीनी लोगों की संस्कृति का सूचक यह शब्द है।

वासुदेव—गीता में वासुदेव भगवान् के लिए प्रयुक्त है। वासुदेवः सर्वम्, ईशावास्यमिदं सर्वम्, ये वचन प्रसिद्ध हैं। 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय', यह द्वादशाक्षरी वेद-मंत्र वैष्णवों का प्राण है।

गो-विश्व-रूप—याने गो-रूप और विश्व-रूप।

विश्वरूप का दर्शन वेद, उपनिषद् और गीता में मिलता है। विश्वरूप कहने पर "गोरूप" कहने के लिए अवकाश नहीं रहता है,

क्योंकि 'विश्वरूप' में सब कुछ आ जाता है। फिर भी 'गो' याने वाणी, अर्थात् विश्वप्रकाशक-शक्ति का विश्वरूप से पृथक्-स्मरण अभीष्ट है। "गो" शब्द गोरक्षणी उपासना भी सूचित करेगा।

चिदानन्द—चैतन्य और आनन्द आत्म-स्वरूप-दर्शन के शब्द हैं। सत् जोड़ने से सच्चिदानन्द हो जाता है। "सत्" का संग्रह पहले ही "ॐ तत् सत्" में आ गया है।

हरि—पाप-सन्ताप-हारि 'हरि'-नाम सारे भारत में राम-नाम के समान गूँज रहा है। उसकी व्याख्या की आवश्यकता ही नहीं है।

अद्वितीय—एकम् सत्। एकमेवाद्वितीयम्। 'ला इलाह लिल्लल्ला हा

अकाल—जो कालातीत है, काल का भी काल है। "सत् श्री अकाल", यह सिक्खों का उद्घोष है।

निर्भय—निर्भयता 'सद्गुण-सेना' का सेनापति है। गीता ने दैवी संपत् के गुणों में इसे प्रथम स्थान दिया है। "गीते भवद्वेषिणीम्" का मैंने मराठी में 'भयद्वेषिणीम्' किया है। भक्तों के लिए काल-भैरव भी अकाल-निर्भय बन जाते हैं।

आत्म-लिंग—आत्मा ही जिसकी पहचान है। आत्मा से बढ़कर ईश्वर की कोई निशानी हमारे लिए नहीं हो सकती।

लिंग—शब्द से शैवों (लिंगायतों) की विशिष्ट उपासना का अनायास स्मरण होता है।

शिव—परम मंगल। नमः शंभवाय च मयोभवाय च। नमः शंकराय च मयस्कराय च। नमः शिवाय च शिवतराय च।

—विनोबा

प्रार्थना का प्राण : ईश्वरार्पण भावना

अध्यापक, विद्यार्थी आदि सब मिलकर संध्या समय प्रार्थना करें, यह रिवाज हमारी संस्थाओं में पड़ गया है। एक रिवाज के तौर पर भी यह अच्छी चीज है। लेकिन जब वह केवल रिवाज रह जाता है, तब यंत्र-तुल्य हो जाता है। वैसा नहीं होने देना चाहिए। उपनिषदों में आया है कि जैसे पक्षी दिन में चारों तरफ इधर-उधर फिरता है, लेकिन शाम को अपने घोंसले में आकर स्थिर हो जाता है, वैसे ही जीवात्मा जब संसार के सब तरह के कामों में भटककर थक जाता है, तब विश्राम के लिए परमेश्वर के पास पहुँच जाता है। प्रार्थना यानी ईश्वर के पास पहुँचने की इच्छा। हम भगवान् की शरण में आये हैं, यह भाव प्रार्थना में होना चाहिए। दिनभर जो काम करते हैं, वे सब शाम की प्रार्थना में परमेश्वर को अर्पण करते हैं, ऐसी भावना रही, तो उसका असर हमारे दिनभर के कामों पर पड़ेगा। और तभी प्रार्थना की असली शक्ति प्रकट होगी। प्रार्थना तो हृदय से ही करनी होती है। फिर भी चूँकि मनुष्य को ईश्वर ने जिह्वा दी है, इसलिए वह उसका भी उपयोग कर लेता है। लेकिन बिना जिह्वा के भी हृदय से सर्वोत्तम प्रार्थना हो सकती है। हमारी वाणी भी टूटी-फूटी होती है, इसलिए हम संतों की वाणी का उपयोग करते हैं। लेकिन वह बननी चाहिए—हमारे हृदय की वाणी।

निष्काम भाव से दक्षतापूर्वक आलस्य छोड़कर सेवा करने का दिनभर प्रयत्न करते रहें, और शाम को इस तरह की हुई शुद्ध सेवा भगवान् को समर्पित कर दें। दिनभर के कामों में कुछ दोष भी दीख पड़ें, तो उन्हें भी धोने के लिए भगवान् को ही अर्पण करना है। यह समर्पण की विधि बहुत ही उपयोगी है। चित्त-शुद्धि के अन्य साधनों को यदि मैं सोडा या साबुन की उपमा दूँ, तो इसको जल की उपमा दूँगा। सोडा-साबुन बिना जल के काम नहीं देते। लेकिन बिना

सोडा-साबुन के भी शुद्ध जल से धोने का काम हो जाता है। हम भगवान् की शरण में जाते हैं तो हृदय शुद्ध होता है, थकान मिट जाती है और नयी शक्ति, नयी स्फूर्ति, नया संकल्प मिल जाता है।

यह एक आत्मिक क्रिया है, जिसे मनुष्य को एकान्त में आत्म-परीक्षणपूर्वक करते रहना चाहिए। इस तरह की उपासना करने-वालों को 'एकांती भक्त' कहा गया है। हम सबको एकांती भक्त बनना चाहिए। एकांती भक्त एकत्र होकर जब भगवान् का गुणगान करते हैं, तब वह सामुदायिक प्रार्थना बनती है। जो एकांत उपासना नहीं करते, उनके एकत्र होने से सामुदायिक प्रार्थना नहीं बनती। एकांती उपासक जब एकत्र हो जाते हैं, तब सबकी एक सामुदायिक इच्छा-शक्ति बनती है, जिसका हरएक को लाभ मिलता है। व्यक्तिगत या एकांत उपासना में हम ईश्वर से सीधा सम्बन्ध जोड़ने की कोशिश करते हैं और सामुदायिक प्रार्थना में संतों के द्वारा ईश्वर से सम्बन्ध जोड़ते हैं। दोनों की मनुष्यों को जरूरत है।

भगवान् को समर्पण करना है, इस खयाल से हमारी सारी क्रियाएँ अपने आप अच्छी होने लगेंगी। एक अतिथि घर पर आता है, तो हम कितनी स्वच्छता से, दक्षता से स्वादिष्ट भोजन बनाकर उसे अर्पण करते हैं। तो जहाँ स्वयं भगवान् को समर्पण करने का खयाल रहेगा, वहाँ कितनी पवित्रता हमारी क्रिया में आयेगी? भगवान् के अनुसंधान से सारे भेद मिट जाते हैं, अपनापन जाता रहता है। सारे बिन्दु समुद्र में मिल जाते हैं। हम सब शांति-समुद्र में डूब जाते हैं और जीवन शोभा को प्राप्त होता है। इसलिए रिवाज के तौर पर भी सामुदायिक प्रार्थना को रखकर हमें उसमें ईश्वरार्पण भावना का प्राण डालने की चेष्टा करनी चाहिए। वैसा करेंगे तो, जैसा मनु ने कहा है, हम अन्य कोई उपाय करें या न करें, हमें सिद्धि मिलेगी।

विक्रम (बिहार) १७-४-'४८ —विनोबा

परिशिष्ट : ५

प्रार्थना का अर्थ : अहंकार-रहित प्रयत्न

ॐ असतो मा सद्गमय ।

तमसो मा ज्योतिर्गमय ।

मृत्योर्मा अमृतं गमय ॥

'हे प्रभो, मुझे असत्य में से सत्य में ले जा। अन्धकार में से प्रकाश में ले जा। मृत्यु में से अमृत में ले जा।'

इस मंत्र में हम कहाँ हैं, अर्थात् हमारा जीव-स्वरूप क्या है, और हमें कहाँ जाना है, अर्थात् हमारा शिव-स्वरूप क्या है, यह दिखाया है। हम असत्य में हैं, अन्धकार में हैं, मृत्यु में हैं। यह हमारा जीव-स्वरूप है। हमें सत्य की ओर जाना है, प्रकाश की ओर जाना है, अमृतत्व को प्राप्त कर लेना है। यह हमारा शिव-स्वरूप है।

दो बिंदु निश्चित हुए कि सुरेखा निश्चित हो जाती है। जीव और शिव, ये दो बिंदु निश्चित हुए कि परमार्थ-मार्ग तैयार हो जाता ह। मुक्त के लिए परमार्थ-मार्ग नहीं है, कारण उसका जीव-स्वरूप जाता रहा है। शिव-स्वरूप एक ही बिन्दु बाकी रह गया है, इसलिए मार्ग पूरा हो गया। जड़ के लिए परमार्थ-मार्ग नहीं है। कारण उसे शिव-स्वरूप का भान नहीं है। जीव-स्वरूप का एक ही बिंदु दृष्टि के सामने है, इसलिए मार्ग आरम्भ ही नहीं होता। मार्ग बीचवाले लोगों के लिए है। बीचवाले लोग अर्थात् मुमुक्षु। उनके लिए मार्ग है और उन्हींके लिए यह मंत्रवाली प्रार्थना है।

'मुझे असत्य में से सत्य में ले जा' ईश्वर से यह प्रार्थना करने के मानी है, 'मैं असत्य में से सत्य की ओर जाने का बराबर प्रयत्न करूँगा', इस तरह की एक प्रतिज्ञा-सी करना। प्रयत्नवाद की प्रतिज्ञा के बिना प्रार्थना का कोई अर्थ ही नहीं रहता। यदि मैं प्रयत्न नहीं करता और चुप बैठ जाता हूँ, अथवा विरुद्ध दिशा में जाता हूँ, और मुख से 'मुझे असत्य में से सत्य में ले जा', यह प्रार्थना किया करता हूँ, तो इससे क्या मिलने का ? नागपुर से कलकत्त की ओर जानेवाली गाड़ी में बैठकर 'हे प्रभो, मुझे बंबई ले जा' की कितनी ही प्रार्थना करें, तो उससे क्या फायदा होना है ? असत्य से सत्य की ओर ले चलने की प्रार्थना करनी हो, तो असत्य से सत्य की ओर जाने का प्रयत्न भी करना चाहिए। प्रयत्नहीन प्रार्थना प्रार्थना ही नहीं हो सकती। इसलिए ऐसी प्रार्थना करने में यह प्रतिज्ञा शामिल है कि मैं अपना रुख असत्य से सत्य की ओर करूँगा और अपनी शक्तिभर सत्य की ओर जाने का भरपूर प्रयत्न करूँगा।

प्रयत्न करना ह, तो फिर प्रार्थना क्यों ? प्रयत्न करना है, इसीलिए तो प्रार्थना चाहिए। मैं प्रयत्न करनेवाला हूँ। पर फल मेरी मुट्ठी में थोड़े ही है। फल तो ईश्वर की इच्छा पर अवलंबित है। मैं प्रयत्न करके भी कितना करूँगा ? मेरी शक्ति कितनी अल्प ? ईश्वर की सहायता के बिना मैं अकेला क्या कर सकता हूँ ? मैं सत्य की ओर अपने क़दम बढ़ाता रहूँ, तो भी ईश्वर की कृपा के बिना मैं मंजिल पर नहीं पहुँच सकता। मैं रास्ता काटने का प्रयत्न तो करता हूँ, पर अन्त में रास्ता काटूँगा या बीच में मेरे पैर ही कट जानेवाले हैं, यह कौन कह सकता है ? इसलिए अपने ही बल-बूते मैं मंजिल पर पहुँच जाऊँगा, यह घमंड व्यर्थ है। काम का अधिकार मेरा है, पर फल ईश्वर के हाथ में है। इसलिए प्रयत्न के साथ-साथ ईश्वर की प्रार्थना आवश्यक है। प्रार्थना के संयोग से हमें बल मिलता है। यों कहो न कि अपने

पास का संपूर्ण बल काम में लाकर और बल की ईश्वर से माँग करना, यही प्रार्थना का अर्थ है।

प्राथना में दैववाद और प्रयत्नवाद का समन्वय है। दववाद में पुरुषार्थ को अवकाश नहीं है, इससे वह बावला है। प्रयत्नवाद में निरहंकार वृत्ति नहीं है, इससे वह घमंडी ह। फलतः दोनों ग्रहण नहीं किये जा सकते। किन्तु दोनों को छोड़ा भी नहीं जा सकता। कारण दैववाद में जो नम्रता ह, वह आवश्यक है। प्रयत्नवाद में जो पराक्रम है, वह भी आवश्यक है। प्रार्थना इनका मेल साधती है। 'मुक्तसंगोऽन ंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः' गीता में सात्त्विक कर्ता का यह जो लक्षण कहा गया है, उसमें प्रार्थना का रहस्य है। प्रार्थना मानी अहंकार-रहित प्रयत्न। सारांश, मुझे 'असत्य में से सत्य में ले जा' इस प्रार्थना का सम्पूर्ण अर्थ होगा कि 'मैं असत्य में सत्य की ओर जाने का अहंकार छोड़कर उत्साहपूर्वक सतत प्रयत्न करूँगा'। यह अर्थ ध्यान में रखकर हमें रोज प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए कि-

हे प्रभु, तू मुझे असत्य में से सत्य में ले जा। अन्धकार में से प्रकाश में ले जा। मृत्यु में से अमृत में ले जा।

—विनोबा

सर्वोदय और भूदान-साहित्य

(विनोबा)

गीता-प्रवचन	१)
शिक्षण-विचार	१।।)
स्थितप्रज्ञ-दर्शन	१)
त्रिवेणी	।।)
साहित्यिकों से	।।)
कार्यकर्ता-पाथेय	।।)
विनोबा-प्रवचन	।।।)
सर्वोदय के आधार	।)
पाटलिपुत्र में	।-)
एक बनो और नेक बनो	=)
गाँव के लिए आरोग्य-योजना	=)
गाँव-गाँव में स्वराज्य	=)
भगवान् के दरबार में	=)
व्यापारियों का आवाहन	=)
ईशावास्यवृत्ति	।।।)
विनोबा के विचार	३)
विचार-पोथी	१)
उपनिषदों का अध्ययन	।।।)

(धीरेंद्र मजूमदार)

शासन-मुक्त समाज की ओर	।=)
युग की महान् चुनौती	।)
नयी तालीम	।।)
ग्रामराज	।)

(श्रीकृष्णदास जाजू)

संपत्तिदान-यज्ञ	।)
व्यवहार-शुद्धि	।=)

(दादा धर्माधिकारी)

साम्ययोग की राह पर	।)
क्रांति का अगला कदम	।)
मानवीय क्रांति	।)

(अन्य लेखक)

सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र	।)
जीवनदान	।)
श्रमदान	।)
भूदान-आरोहण	।।)
पावन-प्रसंग	।=)
सत्संग	।।)
संत विनोबा की आनन्द-यात्रा	१।।)
सुन्दरपुर की पाठशाला	।।।)
विनोबा के साथ	१)
क्रांति की राह पर	१)
क्रांति की ओर	१)
सबै भूमि गोपाल की (नाटक)	।)
पावन प्रकाश (नाटक)	।)
क्रांति की पुकार	=)
पूर्व-बुनियादी	।।)
गो-सेवा की विचारधारा	।।)
ग्रामशाला-ग्रामज्ञान	१)
भूमि-क्रांति की महानदी	।।।)
भूदान-दीपिका	=)
साम्ययोग का रेखाचित्र	=)
गाँव का गोकुल	।)
ज्ञानदेव-चिन्तनिका	।।।)
सर्वोदय-भजनावलि	।)

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

राजघाट, काशी

जन-सेवक के

१. वह धार्मिक वृत्तिवाला हो।
सत्कर्म, सद्वाणी और सद्वर्त
चाहिए।

२. उसका चरित्र इतना विशुद्ध
उसके पास निर्भय होकर जा सकें
स्त्रियों के पास जाने देने में संकोच

३. उसका आर्थिक व्यवहार सर्व
पाई-पाई का उसे ठीक-ठीक हिसाब

४. उसे सतत उद्योगी होना चाहि
बातों, निन्दा-स्तुति में अपना समय बिताता है, वह सेवक कभी प्रतिष्ठा नहीं पा सकता।

५. समय-पालन की आदत उसे अवश्य होनी चाहिए।

६. उसे अपने देह-गेह की चिन्ता ईश्वर को सौंपकर निर्भयता प्राप्त करनी चाहिए।

७. उसे खुद तो बहुत ही साफ-सुथरा रहना चाहिए, फिर भी अस्वच्छ लोगों से मिलने-जुलने और अस्वच्छता हटाने के काम में उसे घिन नहीं लगनी चाहिए।

८. उसे अपनी डायरी लिखने की आदत रखनी चाहिए।

९. ईश्वर-स्मरण से दिन का आरम्भ करके, रात को सारे दिन के कार्य का सिंहावलोकन तथा उस पर मनन करके और ईश्वर-स्मरण-पूर्वक नींद की गोद में जानेवाला लोक-सेवक लोक-सेवा करते-करते श्रेय को ही प्राप्त होगा।

१०. ऐसा सेवक विचार करके इस नतीजे पर पहुँचेगा कि उसे ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना चाहिए और जब से उसे इस बात का निश्चय हो जाय, तब से उसे इष्ट दिशा में प्रयत्नशील हो जाना चाहिए।

—गांधीजी